मनुस्मृति का महत्त्व

डॉ. उपेंद्र कुमार

Kripa Drishti Publications, Pune.

मनुस्मृति का महत्त्व

डॉ. उपेंद्र कुमार

सह - प्राध्यापक,

ए.आय एवं ए.एस विभाग, एस.बी.ए.एन. महाविद्यालय,

दरहेटा- लारी, अरवल.

Kripa-Drishti Publications, Pune.

शीर्षक: **मनुस्मृति का महत्त्व**

लेखक: **डॉ. उपेंद्र कुमार**

1st Edition

ISBN: **978-81-19149-32-2**

Published: **Jan 2023**

Publisher:

Kripa-Drishti Publications

A/ 503, Poorva Height, SNO 148/1A/1/1A,
Sus Road, Pashan- 411021, Pune, Maharashtra, India.
Mob: +91-8007068686
Email: editor@kdpublications.in
Web: https://www.kdpublications.in

©**Copyright डॉ. उपेंद्र कुमार**

All Rights Reserved. No part of this publication can be stored in any retrieval system or reproduced in any form or by any means without the prior written permission of the publisher. Any person who does any unauthorized act in relation to this publication may be liable to criminal prosecution and civil claims for damages. [The responsibility for the facts stated, conclusions reached, etc., is entirely that of the author. The publisher is not responsible for them, whatsoever.]

अनुक्रमणिका

अध्याय 1: मनुस्मृति : महत्त्व एवं इसका प्रणयन 1

1.1 मनुस्मृति का महत्त्व :.....1
1.2 मनुस्मृति के टीकाकार :.....7
1.2.1 मेधातिथि :.....7
1.2.2 गोविन्दराज :.....8
1.2.3 कुल्लूकभट्ट :.....9

अध्याय 2: मनुस्मृति : मूल पाठ एवं अर्थ 10

अध्याय 3: राजा एवं मंत्रिपरिषद 55

3.1 अराजक अवस्था :.....55
3.2 राजा की उत्पत्ति क्यों और कैसे हुई?.....56
3.2.1 राजा की सर्वोच्चता :.....56
3.2.2 राजा का कार्य :.....56
3.2.3 राज्य की उत्पत्ति :.....57
3.2.4 राजा के गुण :.....58
3.3 राजा की आवश्यकता क्यों हुई और उसके क्या कर्त्तव्य है?.....59
3.4 कैसे स्थान पर राजा का निवास स्थान होना चाहिए?.....60
3.5 कार्यो के अनुरूप अनेक अध्ययनों की नियुक्ति :.....61
3.6 राजा को राज्य की रक्षा किस प्रकार करनी चाहिए?.....62
3.7 राष्ट्र की रक्षा करने से राजा को सुख प्राप्त होता है :.....62
3.8 ग्रामों में ग्राम रक्षक और प्रमुख की नियुक्ति :.....63
3.9 संगठन के समय छोटा ग्राम बड़े ग्रामों की सहायता से लाभ उठाए :.....63
3.10 प्रजा के विरूद्ध कार्य करने वालों को दण्ड :.....63
3.11 सेवकों की उचित पारिश्रमिक देने की व्यवस्था :.....63
3.12 कार्य के अनुरूप ही वेतन देने की माप व्यवस्था थी :.....63
3.13 राजा का कर्त्तव्य क्या है?.....64
3.14 राजा के इसके साथ ही और भी कर्त्तव्य माने गये हैं :.....64
3.15 मंत्रिपरिषदा की सहायता :.....65
3.16 मंत्रिमंडल में कितने और किस आधार पर मंत्री होते थे?.....66
3.17 मंत्रियों का कार्य विभाजन किस प्रकार हो?.....68
3.18 कैसे व्यक्तियों को दूत बनाना चाहिये?.....68
3.19 राजदूत किसे कहते हैं और उसके क्या लक्षण है?.....68

अध्याय 4: न्याय, दंड, कोष एवं अन्य राजकीय कार्य 70

4.1 न्याय व्यवस्था :.....70
4.2 प्रमाणों की आवश्यकता :.....70
4.3 राजा का विधि के अधीन होना :.....71
4.4 न्यायालयों में प्रस्तुत होनेवाले अभियोग :.....71

4.5 दण्ड की महत्ता : 72
4.6 राजधर्म को चलाने में दण्ड को प्रमुख स्थान क्यों दिया गया है? 72
4.7 अपराधियों को दण्ड न देने से राज्य में कैसी अव्यवस्था हो जाती है? 73
4.8 दण्ड का प्रयोग करनेवाले राजा को कैसा होना चाहिये? 73
4.9 दण्ड का प्रयोग निम्नलिखित गुगों को रखनेवाला शासक ही कर सकता है : 73
4.10 कर का कोष : 74
4.10.1 करों के प्रकार : 74
4.11 अर्न्तराज्य संबंध : 74
4.12 आयु के अनुरूप ही कर लिए जाते थे : 75
4.13 दुर्ग रचना : 76
4.13.1 दुर्ग निर्माण से क्या लाभ थे : 76
4.13.2 दुर्ग की शक्ति का महत्त्व : 77
4.13.3 दुर्ग में समस्त प्रकार की चीजें होती थी : 77
4.13.4 दुर्ग के मध्य में राजप्रसाद आदि होते थे : 77
4.14 राजा कैसे स्थान में गुप्त मंत्रणा करे : 78
4.15 मंत्र को गुप्त रखने से क्या लाभ होता है? 78
4.16 दूत, गुप्तचर और उनके कार्यो का चिंतन : 78
4.17 पञ्जवर्ग किसे कहते हैं? 79
4.17.1 अनुराग तथा अपराग : 80
4.17.2 राज मण्डल का प्रचार : 80
4.17.3 मध्यम, उदासीन आदि को चिन्ता : 80
4.17.4 राजमण्डल की कितनी प्रकृतियाँ होती है? 81
4.18 शत्रु आदियों पर राजा कैसे नियंत्रण कर रखें? 81
4.19 अच्छा राजा इन छः गुर्गो को सदा ध्यान रखे : 81
4.19.1 संधि के भी दो प्रकार होते है : 81
4.19.2 विग्रह के भी दो भेद होते है : 81
4.19.3 यान के भी दो भेद होते है : 82
4.19.4 आसन के भी दो भेद होते है : 82
4.19.5 द्वेधीभाव के भी दो भेद होते है : 82
4.19.6 संश्रय के दो भेद होते है : 82
4.20 नीति किसे कहते है? 83
4.21 सैनिकों का परीक्षण एवं उत्साहवर्धन किस प्रकार किय जाय? 83
4.22 विजित राज्य से युद्ध के पश्चात् कैसा व्यवहार करना चाहिये? 84
4.23 मनुष्य धन की रक्षा किसलिए करता है? 85
4.24 आपत्तियों के उपस्थित होने पर राजा को क्या करना चाहिये? 85
4.25 राजा के रोगग्रस्त होने पर कार्य भारत किसे दिया जा सकता है? 85
4.26 युत्र में न मारे जानेवाले भी कुछ लोग थे : 85
4.27 ये सभी लोग अवध्य थे : 86
4.28 इनका राजा को सदा पालन करना चाहिये : 86

अध्याय 5: मनुस्मृति एवं याज्ञवल्क्य स्मृति एक तुलनात्मक अध्ययन 87

5.1 समाज :
.....90
5.2 राज्य :.....92
5.3 राजा :.....94
5.4 शासन :.....100
5.5 न्याय–व्यवस्था :.....105
5.6 कर–व्यवस्था :.....109
5.7 पर–राष्ट्र संबंध :.....110
5.8 कौटिल्य से तुलना :.....113

अध्याय 6: निष्कर्ष.....116

अध्याय 7: संदर्भ.....122

ISBN: 978-81-19149-32-2

अध्याय 1

मनुस्मृति : महत्त्व एवं इसका प्रणयन

1.1 मनुस्मृति का महत्त्व :

प्राचीन भारत में सब स्मृतियों में मनुस्मृति सबसे महत्त्वपूर्ण एवं विश्वसनीय है। इस ग्रंथ को 'मनुस्मृति', 'मनु संहिता' एवं 'मानव–धर्म शास्त्र' आदि अनेक नामों से सम्बोधित किया जाता है। वेदों के पश्चात् इसी ग्रन्थ का महत्त्व है। प्राचीन भारतीय सामाजिक व्यवस्था पूर्णतः इसी ग्रंथ पर आधारित थी प्राचीन भारतीय सभ्यता के विकास में मनु तथा याज्ञवल्क्य और साथ ही साथ महाभारत का भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है।

अधिकतर विद्वानों ने इन तीन ग्रंथों का रचनाकाल 200 ई0 पू0 से 300 ई0 तक माना है। ब्राह्मण समाज एवं धर्म के विकास के अंकुर इमको मनु एवं याज्ञवल्क्य के ग्रंथों में प्राप्त होते हैं। मनुस्मृति में कुल 12 अध्याय है। मनु ने समाज, धर्म एवं राजनीति में एकरूपता स्थापित करने के लिए अनेक नियमों का निर्माण किया है।

मनुस्मृति के प्रत्येक अध्याय का राजशास्त्र की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं है। इसके प्रथम अध्याय में जगत् की उत्पत्ति तथा संस्कारों की विधियों का वर्णन है। दूसरे अध्याय के अन्तर्गत धर्मोपदेश, सदाचरण तथा चारो वर्णों और आश्रमों का वर्णन है। चौथे अध्याय में मनुष्यों के दिन प्रतिदिन के कार्यों का वर्णन है। पाँचवें अध्याय में स्त्रियों से संबंधित विषयों का वर्णन किया गया है। छठे अध्याय में वाणप्रस्थ एवं संन्यास धर्म के नियमों का वर्णन किया गया है।

राजशास्त्र की दृष्टि से सातवें एवं आठवें अध्याय का उपयोग सबसे अधिक है। सातवें अध्याय के अन्तर्गत राजधर्म, राजा की आवश्यकता, राजनियम, राजा के कर्त्तव्य, मंत्रिमण्डल तथा सैन्य संगठन आदि विषयों का वर्णन किया गया है। आठवें अध्याय में न्यायालय संगठन तथा उसका कार्य पद्धति के विषय में प्रकाश डाला गया है। इन विषयों में मुकदमों को छान–बीन, दण्ड, नियम, साक्षी, गलत साक्षी देने के अपराध एवं समस्त प्रकार के अपराधों का उल्लेख किया गया है। मनुस्मृति के नवें/दसवें तथा ग्यारहवें अध्याय में विभिन्न वर्णो तथा वर्ण संकरों से संबंधित समस्त विषयों का वर्णन किया गया है। बारहवें अध्याय में उन समस्त अनुष्ठानों का उल्लेख है जो कि मृत्यु उपरान्त किये जाते हैं।

मनु के सामाजिक तथा धार्मिक विचारों ने उस काल की राजनीति को अत्यन्त प्रभावित किया। प्राचीन भारत के सामाजिक संगठन के आधार पर चार वर्णों में जिनके नाम क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शुद्र थे, शासनकर्त्ता क्षत्रिय लोग हुआ करते थे। शासकों को प्रशासन में परामर्श देने का कार्य ब्राह्मण लोग करते थे। तत्कालीन समाज में सामाजिक संतुलन करने का श्रेय इन्हीं चार वर्णों को था।

मनु ने इस वर्णन वर्णन व्यवस्था को प्रश्रय दिया तथा अनेक नियमों का निर्माण करके इसकी नींव को सुदृढ़ किया। अपने ग्रंथ में मनु ने धर्म को सर्वोपरि स्थान दिया है।

भारतवर्ष में मनुस्मृति का सर्वप्रथम मुद्रण सन् 1813ई. में (कलकत्ता में) हुआ। उसके उपरान्त इसके इतने संस्करण प्रकाशित हुए कि उनका नाम देना संभव नहीं है। इस ग्रंथ में निर्णय सागर के संस्करण एवं कुल्लूक भट्ट की टीका का उपयोग हुआ है। मनुस्मृति का अंग्रेजी अनुवाद कई बार हो चुका है। डॉ0 बुहलर का अनुवाद सर्वश्रेष्ठ है। उन्होंने एक विद्वतापूर्ण भूमिका में कतिपय समस्याओं का उद्‌घाटन भी किया है।

ऋग्वेद में मनु को मानव जाति का पिता कहा गया है। एक वैदिक कवि ने स्तुति की है ताकि वह मनु के मार्ग से च्युत न हो जाए।[2] एक कवि ने कहा है कि मनु ने ही सर्वप्रथम यज्ञ किया।[3] तैतिरीय संहिता एवं ताण्ड्य–महाब्राह्मण में आया है कि मनु ने जो कुछ कहा है, आषध है।[4] प्रथम में ––मानव्यो हि प्रजाः' कहा गया है। तैत्तिरीय संहिता तथा ऐतरेय ब्राह्मण में मनु के विषय में एक गाथा है, जिसमें उन्होंने अपनी सम्पत्ति को अपने पुत्रों में बाँटा है और अपने पुत्र नाभानेदिष्ठ को कुछ नहीं दिया है। ज्ञातपथ ब्राह्मण में मनु और प्रलय की कहानी है। निरूक्त में भी मनु स्वांभुव के मत का चर्चा हुई है। अतः यास्क के पूर्व पद्‌बद्ध स्मृतियाँ थीं और मनु एक व्यवहार–प्रणेता थे। गौतम, वशिष्ठ, आपस्तम्ब में मनु का उल्लेख किया है। महाभारत में मनु को कभी केवल मनु, कभी स्वायंभुव मनु[5] और कभी प्राचेतम मनु[6] कहा गया है। शान्ति पर्व में आया है कि किस प्रकार भगवान ब्रह्मा ने एक सौ सहस्त्र श्लोकों में धर्म पर लिखा, किस प्रकार मनु ने उन धर्मो को उद्‌घोषित किया और किस प्रकार उश्ना तथा वृहस्पति ने मनु स्वायंभुव के ग्रंथ के आधार पर शास्त्रों का प्रणयन किया।[7] महाभारत में एक स्थान पर विवरण कुछ भिन्न है और वहाँ मनु का नाम नहीं आया है। शान्तिपर्व[8] ने बताया है कि किस प्रकार ब्रह्मा ने धर्म अर्थ एवं काम पर एक लाख अध्याय लिखे और वह महाग्रंथ कालान्तर में विशालाक्ष, इन्द्र, वाहुदन्तक, वृहस्पति एवं काव्य (उशना) द्वारा क्रम से 10,000, 5,000, 3,000 एवं 1,000 अध्यायों में संक्षिप्त किया गया। नारद–स्मृति में आया है कि मनु ने 1,00,000 श्लोकों 1080 अध्यायों एवं 24 प्रकरणों में एक धर्म–शास्त्र लिखा और उसे नारद को पढ़ाया, जिसने उसे 12,000 श्लोकों में संक्षिप्त किया और मार्कण्डेय को पढ़ाया। मार्कण्डेय ने भी इसे 8,000 श्लोकों में संक्षिप्त कर सुमति भार्गव को दिया, जिन्होंने स्वयं उसे 4,000 श्लोकों में संक्षिप्त किया। वर्तमान मनुस्मृति में आया है।[9] कि ब्रह्मा से विराट की उद्‌भूति हुई जिन्होंने मनु को उत्पन्न किया, जिनसे भृगु, नारद आदि ऋषि उत्पन्न हुएः ब्रह्मा ने मनु को शास्त्राध्ययन कराया, मनु ने दस ऋषियों को वह ज्ञान दिया;[10] कुछ बड़े ऋषि मनु के यहाँ गये और वर्गो एवं मध्यम जातियों के धर्मों (कर्त्तव्यों) को पहले पढ़ाने के लिए उनसे प्रार्थना की और मनु ने कहा कि यह कार्य उनके शिष्य भृगु करेंगे।[11] मनुस्मृति में यह पढ़ाने की बात आरंभ से अन्त तक है और स्थान–स्थान पर ऋषि लोग भृगु के व्याख्यान को रोककर उनसे कठिन बातें समझ लेते हैं।[12] मनु सर्वत्र विराजमान है, उनका नाम 'मनुराह[13] या 'मनुरद्र बीत' या 'मरोरनुशासनम्' के रूप में दर्जनों बार आया है।[14] भविष्यपुराण के अनुसार जैसा कि हमें हेमाद्रि, संस्कारमयूख तथा अन्य ग्रंथों से पता चलता है कि, स्वायंभुव शास्त्र के चार संस्करण थे, जो भृगु, नारद, वृहस्पति एवं अंगिरा द्वारा प्रणीत थे।[15] अति प्राचीन लेखक विश्वरूप ने मनुस्मृति के उद्धरण दिये हैं और वहाँ मनु स्वयंभू कहे गये हैं।[16] किन्तु विश्वरूप द्वारा उद्धृत भृगु की बातें मनुस्मृति में नहीं पाया जाता। इसी प्रकार अपरार्क द्वारा उद्धृत भृगु की बातें भी मनुस्मृति में नहीं पायी जाती।

मनुस्मृति का प्रणयन किसने किया, यह कहना कठिन है। यह सत्य है कि मानव के आदि पूर्वज मनु ने इसका प्रणयन नहीं किया है।

इसके प्रणेता ने अपना नाम क्यों छिपा रखा, यह कहना दुष्कर ही है। हो सकता है कि इस महान् ग्रंथ को प्राचीनता एवं प्रामाणिकता देने के लिए ही इसे मनुकृत कहा गया है। मैक्समूलर के साथ डॉ0 बुहलर ने यही प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है कि मानव–चरण के धर्मसूत्र का संशोधित रूप ही मनुस्मृति है। किन्तु संभवतः मानवधर्म सूत्र नामक ग्रंथ कभी विद्यमान ही नहीं था। महाभारत ने स्वायंभूव मनु एवं प्राचेतस मनु में अन्तर बताया है, जिनमें प्रथम धर्मशास्त्रकार एवं दूसरे अर्थशास्त्रकार कहे गये हैं। कहीं–कहीं केवल मनु राजधर्म या अर्थविद्या के प्रणेता कहे गये हैं। हो सकता है, आरंभ में मनु के नाम दो ग्रंथ रहे होंगे। जब कौटिल्य 'मानवों' की ओर संकेत करते हैं तो वहाँ संभवतः वे प्राचेतस मनु की बात उठाते हैं।

चाहे जो हो, यह कल्पना करना असंगत नहीं है कि मनुस्मृति के लेखक ने मनु के नाम वाले धर्मशास्त्र एवं अर्थशास्त्र की बातों को ले लिया। यह बात संभवतः कौटिल्य को ज्ञात नहीं थी, क्योंकि संभवतः तब तक यह संशोधन–सम्पादन नही हो सका था, या हुआ भी रहा होगा तो कौटिल्य को इसकी सूचना नहीं थी। वर्तमान मनुस्मृति में इसके लेखक को स्वायंभुव मनु कहा गया है, जिनके अतिरिक्त छः अन्य मनुओं की चर्चा की गयी है, जिनमें प्राचेतस की गणना नही हुई है।

वर्तमान मनुस्मृति में 12 अध्याय एवं 2694 श्लोक हैं। मनुस्मृति सरल एवं धारा प्रवाह शैली में प्रणीत है। इसका व्याकरण अधिकांश में पाणिनि सम्मत है। इसके सिद्धान्त गौतम, बोधायन एवं अपस्तम्ब के धर्मसूत्रोां से बहुत कुछ मिलते–जुलते हैं। इसके बहुत से श्लोक वशिष्ठ एवं विष्णु के धर्मसूत्रों में भी पाये जाते है। भाषा एवं सिद्धान्तों में मनुस्मृति एवं कौटिलीय में बहुत कुछ समानता है।[17]

मनुस्मृति की विषरू–सूची यह है– (1) वर्ग धर्म की शिक्षा के लिए ऋषिगण मनु के पास जाते है, मनु बहुत कुछ सांख्य मत के अनुसार आत्मरूप से स्थित भगवान से विश्व–सृष्ठि का विवरण देते हैं, विराट की उत्पत्ति, विराट् से मनु, मनु से दस ऋषियों की सृष्टि हुई, भाँति–भाँति के जीव, यथा–मनुष्य, पशु–पक्षी आदि की सृष्टि; ब्रह्मा ने धर्म–शिक्षा मनु को दी, मनु ने ऋषियों को शिक्षित किया; मनु ने भृगु को ऋषियों को धर्म की शिक्षा देने का आदेश दिया, स्वायंभुव मनु से छः अन्य मनु उत्पन्न हुए, निमेष से वर्ष तक की काल–इकाइयाँ, चारों युग एवं उनके संध्या–प्रकाश; एक सहस्त्र युग ब्रह्मास के एक दिन के बराबर है, मन्वन्तर, प्रलय का विस्तार, चारों युगों में क्रमशः धर्मावनति, चारों युगों में विभिन्न धर्म एवं लक्ष्य; चारों वर्गो के विशेषाधिकार एवं कर्त्तव्य; ब्राह्मणों एवं मनु के शास्त्र की स्तुति; आचार परमोच्च धर्म है, सम्पूर्ण शास्त्र की विषय–सूचीद्ध (2) धर्म परिभाषा, धर्म के उपादान है वेद, स्मृति, भद्र लोगों का आचार, आत्मतृष्टि, इस शास्त्र के लिए किसका अधिकार है; ब्रह्मावर्त, ब्रह्माधिदेश, मध्यदेश, आर्यावर्त की सीमाएँ, संस्कार क्यों आवश्यक हैं, ऐसे संस्कार यथा–जातकर्म, नामधेप, चूड़ाकर्म, उपनयन, वर्गो के उपनयन का उचित काल, उचित मेखला, पवित्र जनेऊ, तीन वर्णो के ब्रह्माचारियों के लिए दण्ड, मृगछाला, ब्रह्माचारी के कर्त्तव्य एवं आचरण, (3) 36,18 एवं 9 वर्षो का ब्रह्माचर्य, समावर्तन, विवाह; विवाह योग्य लड़की, ब्राह्मण चारों वर्णो की लड़कियों से विवाह कर सकता है, आठ प्रकार के विवाहों की परिभाषा, किन जाति के लिए कौन विवाह उपयुक्त है, पति–पत्नी के कर्त्तव्य, नारी–स्तुति, पंचाहिन्क, गृहस्थ–जीवन की प्रशंसा, अतिथि–सत्कार, मधुपर्क, श्राद्ध, श्राद्ध में कौन निमंत्रित नहीं होते, (4) गृहस्थ की जीवन–विधि एवं वृत्ति, स्नातक–आचार–विधि, अध्याय–नियम, वर्जित एवं अवर्जित भोज्य एवं पेय के लिए नियम;

(5) कौन से माँस एवं तरकारियाँ खानी चाहिए, जन्म–मरण पर अशुद्धिकाल, सपिण्ड एवं समानोदक की परिभाषा, विभिन्न प्रकार से विभिन्न वस्तुओं के स्पर्श से पवित्रीकरण, पत्नी एवं विधवा के कर्त्तव्य, (6) वानप्रस्थ होने का काल, उसकी जीवनचर्या, परिव्राजक एवं उसके कर्त्तव्य, गृहस्थ–स्तुति, (7) राजधर्म, दण्ड–स्तुति, राजा के लिए चार विधाएं, काम से उत्पन्न राजा के दस अवगुण एवं क्रोध से उत्पन्न आठ अवगुण (दोष), मंत्रि–परिषद की रचना, दूत के गुण (पात्रता), दुर्ग एवं राजधानी, पुरूष एवं विविध विभागों के अध्यक्ष, युद्ध–नियम, साम, दाम, भेद एवं दण्ड नामक चार साधन, ग्राम मुखिया से ऊपर वाले राज्याधिकारी, कर–नियम, बारह राजाओं के मण्डल की रचना; छः गुण– संधि, युद्ध–स्थिति, शत्रु पर आक्रमण, आसन, शरण लेना एवं द्वेध; विजयी के कर्त्तव्य, (8) न्यायशासन संबंधी राजा के कर्त्तव्य, व्यवहारों के 18 नाम, राजा एवं न्यायाधीश, अन्य न्यायाधीश, सभा–रचना; नावालिगों, विधवाओं, असहाय लोगों, कौध आदि को देखने के लिए राजा का धर्म, चोरी गये हुए धन का पता लगाने में राजा का कर्त्तव्य, दिये हुए ऋण को प्राप्त करने के लिए ऋणदाता के साधन, स्थितियाँ जिनके कारण अधिकारी मुकदमा हार जाता है, साक्षियों की पात्रता, साक्ष्य के लिए अयोग्य व्यक्ति, शपथ, झूठी गवाही के लिए अर्थ–दण्ड, शारीरिक दण्ड के ढ़ंग, शारीरिक दण्ड से ब्राह्मणों को छुटकारा, तौल एवं बटखरे; न्यूनतक, मध्यम एवं अधिकतम अर्थ–दण्ड, ब्याज–दर, प्रतिज्ञाएँ, प्रतिकुल (विपक्षी के) अधिकार से प्रतिज्ञा, सीमा, नावालिग की भूमि–सम्पत्ति, धन–संग्रह, राजा की सम्पत्ति आदि पर प्रभाव नहीं पड़ता; दामदुपट का नियम; बंधक; पिता के कौन से ऋण पुत्र नहीं देगा; सभी लेन–देन को कपटाचार एवं बलप्रयोग नष्ट कर देता है; जो स्वामी नहीं है उसके द्वारा विक्रय; स्वत्व एवं अधिकार; साझा; प्रत्यादान; मजदूरी का न देगा; परम्पराविरोध, विक्रय–विलोप, स्वामी एवं गौरक्षक के बीच का झगड़ा, गाँव के इर्द–गिर्द के चारागाह; सीमा–संघर्ष; गलियाँ (अपशब्द), अपवाद एवं पिशुन–वचन, आक्रमण, मर्दन एवं कुचेष्टा; पृष्ठभाग पर कोड़ा मारना; चोरी, साहस (यथा हत्या, डकैती आदि के कार्य); स्वरक्षा का अधिकार; ब्राह्मण कब मारा जा सकता है; व्यभिचार एवं बलात्कार, ब्राह्मण के लिए मृत्यु–दण्ड नहीं, प्रत्युत देश निकाला; माता–पिता, पत्नी, बच्चे कभी भी त्याज्य नहीं है; चुंगियां एवं एकाधिकार; दासों के सात प्रकार, (9) पति–पत्नी के न्याय (व्यवहारानुकूल) कर्त्तव्य, स्त्रियों की भर्त्सना, पतिव्रत की स्तुति; बच्चा किसको मिलना चाहिए, जनक को या जिसकी पत्नी से वह उत्पन्न हुआ है; नियोग का विवरण एवं उसकी भर्त्सना; प्रथम पत्नी का कब अतिक्रमण किया जा सकता है; विवाह ही अवस्था, बँटवारा, इसकी अवधि, ज्येष्ठ पुत्र का विशेष भाग, पुत्रिका, पुत्री का पुत्र, गोद का पुत्र, शुद्र पत्नी से उत्पन्न ब्राह्मणपुत्र के अधिकार;' बारह प्रकार की पुत्रता; पिण्ड किसको दिया जाता है, सबसे निकट वाला सपिण्ड उत्तराधिकार पाता है; सकुल्य, गुरू एवं शिष्य उत्तराधिकारी के रूप में, ब्राह्मणस के धन को छोड़कर अन्य किसी के धन का अंतिम उत्तराधिकारी राजा है; स्त्रीधन के प्रकार, स्त्रीधन का उत्तराधिकार; वसीयत से हटाने के कारण, किस सम्पत्ति का बँटवारा नहीं होता; विद्या के लाभ, पुनर्मिलन, माता एवं पितामह उत्तराधिकारी के रूप में, बाँट दी जानेवाली सम्पत्ति;

जुआ एवं पुरस्कार, ये राजा द्वारा बन्द कर दिये जाने चाहिए, पंच महापाप, उनके लिए प्रायश्चित; ज्ञात एवं अज्ञात (गुप्त) चोर; बन्दीगृह, राज्य के सात अंग, वैश्य एवं शुद्र के कर्त्तव्य, (10) केवल ब्राह्मण ही पढ़ा सकता है, मिश्रित जातियाँ, म्लेच्छ, कम्बोज, यवन शक, सबके लिए आचार–नियम, चारों वर्गो के विशेषाधिकार एवं कर्त्तव्य, विपत्ति में ब्राह्मण की वृत्ति के साधन, ब्राह्मण कौन–से पदार्थ न विक्रय करे, जीविका–प्राप्ति एवं उसके साधन के सात उचित ढ़ंग

(11) दान–स्तुति, प्रायश्चित के बारे में विविध मत, बहुत से देखे हुए प्रतिफल, पूर्वजन्म के पाप के कारण रोग एवं शरीर–दोष, पंच पंच नैतिक पाप एवं उनके लिए प्रायश्चित, उपपातक और उनके लिए प्रायश्चित, सान्तपन, पराक, चन्द्रायण जैसे प्रायश्चित, पापनाशक पवित्र मंत्र, (12) कर्म पर विवेचन, क्षेत्रज्ञ, भूतात्मा, जीव, नरक–कष्ट,सत्व, रजस् एवं तमस नामक तीन गुण, निःश्रेयस की उत्पत्ति किससे होती है, आनन्द का सर्वोच्च साधन है आत्म–ज्ञान, प्रवृत्त एवं निवृत्त कर्म फल प्राप्ति का इच्छा से रहित होकर जो कर्म किया जाय वही निवृत्त है, वेद–स्तुति तर्क का स्थान, शिष्ट एवं परिषद, मानव शास्त्र के अध्ययन का फल।

मनु को अपने पूर्व के साहित्य का पर्याप्त ज्ञान था। उन्होंने तीन वेदों के नाम लिए हैं और अथर्ववेद को अथवा गिरसी श्रुति (11.33) कहा है। मनुस्मृति में आरण्यक, छः वेदांगों, धर्मशास्त्रों की चर्चा आयी है। मनु ने अत्रि, उतथ्यपुत्र (गौतम), भृगु, शौनक, वशिष्ठ, वैखानस आदि धर्मशास्त्रकारों का उल्लेख किया है। उन्होंने आख्यान, इतिहास, पुराण एवं लिखों का उल्लेख किया है। मनु ने वेदान्त की भाँति ब्रह्मा का वर्णन किया है, लेकिन यहाँ यह भी कल्पना की जा सकती है कि उन्होंने उपनिषद् की ओर संकेत किया है। उन्होंने वेदवाह्याः स्मृतयः ''की चर्चा करके मानों यह दर्शाया है कि उन्हें विरोधी पुस्तकों का पता था। हो सकता है कि ऐसा लिखकर उन्होंने बौद्धों, जैनों आदि की ओर संकेत किया है। उन्होंने धर्म–विरोधियों और उनकी व्यावसायिक श्रेणियों का उल्लेख किया है। उन्होंने आस्तिकता एवं वेदों की निन्दा की ओर भी संकेत किया है और बहुत प्रकार की बोलियों की चर्चा की है। उन्होंने कंचित्, 'अपरे', 'अन्ये' कहकर अन्य लेखकों के मत का उद्घाटन किया है। बुहलर का कथन है कि पहले एक मानव धर्मसूत्र था, जिसका समान्तर मनुस्मृति में हुआ है। किन्तु वास्तव में यह एक कोरी कल्पना है, क्योंकि मानव धर्मसूत्र था ही नहीं।

अब हम आन्तरिक एवं वाह्य साक्षियों के आधार पर मनुस्मृति के काल–निर्णय का प्रयत्न करेंगे। प्रथमतः हम वाह्य साक्षियां लेते हैं। मनुस्मृति की सबसे प्राचीन टीका मेधातिथि की है, जिसका काल पर्व है 900 ई0। याज्ञवल्क्य स्मृति के व्याख्याकार विश्वरूप ने मनुस्मृति के जो लगभग 200 श्लोक उद्धृत किये है, वे सब बारहों अध्यायों के है। दोनों व्याख्याकारों ने वर्तमान मनुस्मृति से ही उद्धरण लिए है। वेतान्त सूत्र के माध्यम में शंकराचार्य ने मनु को अधिकतर उद्धत किया है। वेदान्त सूत्र के लेखक मनुस्मृति पर बहुत निर्भर रहते हैं, ऐसा शंकराचार्य ने कहा है। कुमारिल के तंत्र वार्तिक में मनुस्मृति को सभी स्मृतियों से ओर गौतम धर्मसूत्र से भी प्राचीन कहा है। मृच्छकटिक (9.30) ने पापी ब्राह्मण के दण्ड के विषय में मनु का हवाला दिया है, और कहा है कि पापी ब्राह्मण को मृत्यु–दण्ड न देकर देश–निष्कासन दण्ड देना चाहिए।

बलभीराज धारसेन के एक अभिलेख से पता चलता है कि सन 571 ई. में वर्तमान मनुस्मृति उपस्थित थी। जमिनिसूत्र के भाष्यकार शबरस्वामी ने भी, जो 500 ई0 के बाद के नहीं हो सकते, प्रत्युत पहले के ही हो सकते हैं, मनुस्मृति को उद्धृत किया है। अपरार्क एवं कुल्लूक ने भविष्यपुराण द्वारा उद्धृत मनुस्मृति के श्लोकों की चर्चा की है। वृहस्पति ने, जिनका काल है 500 ई0, मनुस्मृति की भूरि–भूरि प्रशंसा की है। वृहस्पति ने जो कुछ उद्धत किया है वह वर्तमान मनुस्मृति में पाया जाता है। स्मृति चन्द्रिका में उल्लिखित अंगिरा ने मनु के धर्मशास्त्र की चर्चा की है। अवधेश की वज्ज्रसूचिको परिषद् में मानव धर्म के कुछ ऐसे उद्धरण है जो वर्तमान मनुस्मृति में पाये जाते हैं, कुछ ऐसे भी है, जो नहीं मिलते। रामायण में वर्तमान मनुस्मृति की बातें पायी जाती है।

उपर्युक्त वाह्य साक्षियों से स्पष्ट है कि द्वितीय शताब्दी के बाद के अधिकतर लेखकों ने मनुस्मृति को प्रमाणिक ग्रंथ माना है।

क्या मनुस्मृति के कई संशोधन हुए हैं? संभवतः नहीं। नारदस्मृति में जो यह आया है कि मनु का शास्त्र नारद, मार्कण्डेय एवं सुमति भार्गव द्वारा संक्षिप्त किया गया, भ्रामक उचित है, वास्तव में ऐसा कहकर नारद ने अपनी महत्ता गायी है। अब हम कुछ आन्तरिक साक्षियों की ओर भी संकेत कर लें।

वर्तमान मनुस्मृति याज्ञवल्क्य से बहुत प्राचीन है, क्योंकि मनुस्मृति में न्याय–विधि– संबंधी बातें अपूर्ण हैं और याज्ञवल्क्य स्मृति इस बात में बहुत पूर्ण है। याज्ञवल्क्य को तिथि कम से कम तीसरी शताब्दी है। अतः मनुस्मृति को इससे बहुत पहले रचा जाना चाहिए। मनु ने यवनों, कम्बोाजे, शकों, पहलवीं एवं चीनी के नाम लिये हैं, अतएव वे ई0पू0 तीसरी शताब्दी से बहुत पहले नहीं हो सकते। यवन, काम्बवोज एवं गान्धारा लोगों का वर्णन अशोक के पांचवें प्रस्तर अनुशासन में आ चुका है। वर्त्तमान मनुस्मृति गठन एवं सिद्धान्तों में प्राचीन धर्मसूत्रों, अर्थात् गौतम बौधायन एवं आपन्तम्ब के धर्मसूत्रों में बहुत आगे है। अतः निस्सन्देह इसकी रचना धर्मसूत्रों के उपरान्त हुई है। अतः स्पष्ट है कि मनुस्मृति की रचना ई0 पू0 दूसरी शताब्दी तथा ईसा के उपरान्त दूसरी शताब्दी के बीच कभी हुई होगी। संशोधित एवं परिवर्धित मनुस्मृति की रचना कब हुई, इस प्रश्न का उत्तर मनुस्मृति एवं महाभारत के पारस्परिक संबंध के ज्ञान पर निर्भर कर रहता है। श्री बी0एन0 माण्डलिक ने कहा है कि मनुस्मृति ने महाभारत का भावांश लिया है। बूहलर ने बड़ी छानवीन के उपरान्त यह उद्घोषित किया है कि महाभारत के बाहरहवें एवं तेरहवें पर्वों को किसी मानव धर्मशास्त्र का ज्ञान था और यह मानव धर्मशास्त्र आज की मनुस्मृति के गहरे रूप में संबंधित लगता है। किन्तु यहा बुहलर ने महाभारत के साथ अपना पक्षपात ही प्रकट किया है। हाप्किन ने यह कहा है कि महाभारत के तेरहवें अध्याय में वर्तमान मनुस्मृति की चर्चा है। मनुस्मृति में बहुत से ऐतिहासिक नाम आये हैं, यथा– अंगिरा, अगस्त्य, वेन, नहुष, सुदास, पेजवन; निमि, पृथु, मनु, कुवेर, गाधिसूत्र, वशिष्ठ, वत्स, अक्षमा, सारंगी, दक्ष, अर्जीगर्त वामदेव, भारद्वाज, विश्वामित्र। इनमें बहुत से नाम वैदिक परम्परा के भी है। मनुस्मृति ने यह नहीं कहा है कि ये नाम महाभारत के हैं। महाभारत में मनुरब्रवीत्, मनुराजधर्माः, मनुशास्त्र जैसे शब्द आए हैं, जिनमें कुछ उद्धरण आज की मनुस्मृति में पाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त महाभारत के बहुत से श्लोक मनुस्मृति से मिलते है, यद्यपि वहाँ यह नहीं कहा गया है िकवे मनु से लिए गए हैं। इससे स्पष्ट है कि मनुस्मृति महाभारत से पुराना ग्रंथ है। ई0पू0 चौथी शताब्दी में स्वायंभुव मनु द्वारा प्रणीत एक धर्मशास्त्र था, जो संभवतः पद्य में था। इसी काल में प्राचेतल मनु द्वारा प्रणीत एक राजधर्म भी था। हो सकता है कि देश ग्रंथों के स्थान पर एक वृहत् प्राचेतस का एक वचन उद्धत किया है जो आज की मनुस्मृति में ज्यों का त्यों पाया जाता है। उपर्युक्त दोनों तथाकथित मनु की पुस्तकों की और याक केवल एक पुस्तक की ओर यास्क, गौतम, बोधायन एवं कौटिल्य संकेत करते हैं। महाभारत भी पहले के पर्वा में ऐसा ही करता है। वह बहुचर्चित ग्रंथ आज की मनुस्मृति का आधार एवं मूलबीज है। तब ई. पू. दूसरी शताब्दी एवं ईसा के उपरान्त दूसरी शताब्दी एवं ईसा के उपरान्त दूसरी शताब्दी के बीच संभवतः भृगु ने मनुस्मृति का संशोधन किया। यह कृति प्राचीन ग्रंथ के संक्षिप्त एवं परिवर्धित रूप से प्रकट हुई। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि मनु के बहुत से उद्धरण जो अन्य पुस्तकों में मिलते हैं, आज की मनुस्मृति में क्यों नहीं प्राप्त होते। बात यह हुई कि संशोधन में बहुत–सी बातें हट गयी और बहुत–सी आ गयीं।

वर्तमान महाभारत वर्तमान मनुस्मृति के बाद की रचना है। नारद–स्मृति का यह कथन कि स्मृति भार्गव ने मनु के ग्रंथ को 4000 श्लोकों में संक्षिप्त किया, कुछ सीमा तक ठीक ही है। आज की मनुस्मृति में लगभग 2700 श्लोक है। हो सकता है,

4000 श्लोकों में नारद, ने वृद्ध मनु एवं बृहन्मनु के श्लोकों को भी सम्मिलित कर लिया है। मनुस्मृति का प्रभाव भारत के बाहर भी गया। चम्पा के एक अभिलेख में बहुत से श्लोक मनु (2.136) से मिलते हैं। बर्मा में जो धम्मथट् है, वह मनु पर आधारित है। बालि द्वीप का कानून मनुस्मृति पर आधारित था।

मनु के बहुत से टीकाकार हो गये है। मेधातिथि, गोविन्दराज एवं कुल्लूक के विषय में हूँ कुछ विस्तार से आगे उद्धत करेंगे। इन लोगों के अतिरिक्त व्याख्याकार है नारायण, राधवानन्द, नन्दन एवं रामचन्द्र। कुछ अन्य व्याख्याकार थे जिनका कृतियाँ पूर्णरू‍प से उपस्थित नहीं है, अन्य है एक कश्मीरी टीकाकार (नाम अज्ञात है), असहाय, उदयकर, भागुरि, भोजदेव, धरणीधर। मेधातिथि ने अपने पहले के भाष्यकारों की ओर संकेत किया है।

अहि्लक, व्यवहार एवं प्रायश्चित पर विश्वरूप[18] मिताक्षरा, स्मृति चन्द्रिका, पराशरमाधवीय तथा अन्य लेखकों ने वृद्ध मनु से दर्जनों उद्धरण लिये है। मिताक्षरा[19] तथा अन्य कृतियों ने वृहन्मनु से कुछ श्लोक उद्धृत किये हैं। किन्तु अभी तक वृद्ध मनु एवं बृहन्मनु के कोई स्वतंत्र ग्रंथ उपलब्ध नहीं हो सके हैं।

1.2 मनुस्मृति के टीकाकार :

1.2.1 मेधातिथि :

मनुस्मृति की विस्तृत एवं विद्वतापूर्ण व्याख्या के यशस्वी लेखक मेधातिथि हैं। मेधातिथि के भाष्य की कई हस्तलिखिका प्रतियों में पाये जाने वाले अध्यायों के अन्त में एक श्लोक आता है जिसका यह अर्थ टपकता है कि सहारण के पुत्र मदन नामक राजा ने किसी देश से मेधातिथि की प्रतियाँ मँगाकर भष्य का जीर्णोद्धार कराया । बुहलर के कथनानुसार मेधातिथि कश्मीरी या उत्तर भारत के रहनेवाले थे क्योंकि उनके भाष्य में कश्मीर का बहुत वर्णन है।

मेधातिथि ने निम्नलिखित स्मृतिकारों की किसी न किसी बहाने की चर्चा की है– गौतम, बौधायन, आपस्तम्ब, वशिष्ठ, विष्णु, शंख, मनु, याज्ञवल्क्य नारद, पराशर, वृहस्पति, कात्यायन आदि। मेधातिथि ने वृहस्पति को वार्ता एवं राजनीति के लेखकों में जिना है उशना एवं चाणक्य दण्डनीति, राजनीति एवं राजशासन के लेखकों में गिनने गये हैं। कौटिल्य के ग्रन्थ से बहुत स्थानों पर उद्धरण लिए गये हैं। 'कार्मणा मारम्भोपायः पुरूष द्रव्य संपद् देशकाल विभागों विनिपात प्रतीकार हैः कार्यसिद्धिः'' नाक पाँच मंत्रांगों के नाम जैसे कौटिल्य में आये हैं वैसे ही मेधातिथि में। मेधातिथि ने असहाय एवं अन्य स्मृति विवरणकारों के नाम लिये हैं। सारथकारिका के एवं श्लोक का उद्धरण आया है। मेधातिथि में पुराणों का उल्लेख किया है। उनके कथनानुसार व्यास ही पुराणों के लेखक है और पुराणों में सृष्टि का विवरण पाया जाता है। उन्होंने वाक्यपदीप का एक श्लोक उद्धतकिया है। मेधातिथि ने (मनु पर 2.6) लिखा है कि पांचराय, निग्रंथा (जेन) एवं पाशुपत लोग आर्यो के समाज से बाहर के है।

मेधातिथि के भाष्यग्रंथ से प्रकट होता है कि आज की ही मनुस्मृति इनके समय में भी थे। इन्होंने चिरत्तन एवं पूर्ण मनुस्मृति, भाष्यकारों का उल्लेख किया है। इनके भाष्य में मनोरंजक सूचनाएं भरी हुई है। मिताक्षरा[20] ने असहाय एवं मेधातिथि[21] के मतों की चर्चा करते हुए कहा है कि भाईयों में बँटवारें के समय इन लोगों ने अविवाहित बहन के लिए चौथाई भाग को व्यवस्था की है। मिताक्षरा ने लिखा है कि ब्राह्मणों के असोच की अवधियों के विषय में धीरेश्वर, विश्वरूप एवं मेधातिथि ने ऋष्यभृग के कथन का खण्डन किया है। मेधातिथि के अनुसार शास्त्र में लिखे गये कर्त्तव्यों से छुटकारा ले लेने को संन्यास नहीं कहते हैं, प्रत्युत अहंकार छोड़ देने को संन्यास कहते हैं। इनके अनुसार ब्राह्मण क्षत्रिय लड़के को भी गोद ले सकता है।

मनुस्मृति की व्याख्या करते हुए स्थान–स्थान पर मेधातिथि ने अपनी कृति स्मृति विवेक से भी उद्धरण लिए हैं। स्मृति विवेक में संभवतः पद्य ही थे। पराशर माधवीय ने स्मृति विवेक से बहुत उद्धरण लिए हैं। लोल्लट ने अपने श्राद्धपुरकरण ग्रंथ में मेधातिथि की चर्चा की है। तिथि निरायि–सर्वसुच्य में मेधातिथि के बहुत से श्लोक उद्धत है। विशेश्वर–सरस्वती के यतिधर्म संग्रह में भी मेधातिथि का उल्लेख हुआ है। इन बातों से स्पष्ट है कि मेधातिथि ने धर्म पर बहुत सी स्वनन्य बातें अपने किसी ग्रंथ में लिख रखी थी जो पर्याप्त प्रामाणिक हो चुकी थीं। हो सकता है, यह पुस्तक कभी प्राप्त हो जाय और हमें विद्वान भाष्यकार के कुछ अन्य विशिष्ट मत प्राप्त हो सके।

मेधातिथि ने असहाय एवं कुमारिल के नाम लिए हैं और संभवतः शंकर का मत भी उद्धत किया है, अतः समय 820 ई. के बाद ही कहा जा सकता है। मिताक्षरा ने उन्हें प्रमाणिक रूप में ग्रहण किया है अतः वे 1050 ई. के पूर्व कभी हुए होंगे। मनु के अन्य व्याख्याकार कुल्लूक भट्ट ने मेधातिथि को गोविन्द्र राज (1050–1100ई.) के बहुत पूर्व माना है।

1.2.2 गोविन्दराज :

गोविन्दराज ने मनु–टीका नामक अपने मनुस्मृति भाष्य[22] में लिखा है कि उन्होंने स्मृति मंतरी नामक एक स्वतंत्र पुस्तक भी लिखी है। इस पुस्तक के कुछ अंश आज उपलब्ध होते हैं। गोविन्दराज की जीवनी के विषय में उनकी कृतियों से प्रकाश मिलता है। मनुटीका एवं स्मृति मंजरी में उन्हें गंगा के किनारे रहनेवाले नारायण के पुत्र माधव का पुत्र कहा गया है। कुछ लोगों ने इसी से बनारस के राजा गोविन्द चन्द्र से उनकी तुलना की है किन्तु यह बात गलत है क्योंकि राजा क्षत्रिय थे और गोविन्द राज थे ब्राह्मण। गोविन्दराज ने पुराणों, गृह्यसूत्रों, योगसूत्र आदि की चर्चा की है। उन्होंने आंध्र जैसे म्लेच्छ देशों में यज्ञों की मनाही की है। उन्होंने मेधातिथि की भाँति मोक्ष के लिए ज्ञान एवं कर्म का सामंजस्य चाहा है। कुल्लूक ने मेधातिथि एवं गोविन्दराज भाष्यों से बहुत उद्धण लिए हैं। दायभाग में गोविन्दराज की चर्चा है। गोविन्दराज की स्मृति चन्द्रिका में धर्मशास्त्र संबंधी सारी बातें आ गयी हैं। कुल्लूक ने मेधातिथि को गोविन्दराज से बहुत प्राचीन कहा है। मितधरा ने मेधातिथि एवं भोजदेव का उल्लेख तो किया है पर गोविन्दराज का नहीं। इससे यह सिद्ध किया जा सकता है कि गोविन्दराज 1050ई. उपरान्त ही उत्पन्न हुए होंगे। अनिरूद्ध की हारलता (1160ई.) में गोविन्दराज की चर्चा हुई है और वे विश्वास भोजदेव एवं कामधेनु की भाँति प्रामाणिक ठहराये गये है। इससे स्पष्ट है कि गोविन्दराज 1125ई. के बाद नहीं हो सकते।

दायभाग ने गोविन्दराज के मत का खंडन किया है। जीभूतवाहन ने भोजराज एवं विश्वास के साथ गोविन्दराज का भी हवाला दिया है। हेमाद्रि ने भी गोविन्दराज के मत को उद्घाटन किया है। अतः उपर्युक्त धर्मशास्त्र, कोविदों के कालों को देखते हुए कहा जा सकता है कि गोविन्दराज 1050–1080ई. के मध्य में कहीं हुए होंगे। किन्तु यह बात जीभूतवाहन की 1090–1140 वाली तिथि पर ही आधारित है और अभी तक जीभूतवाहन की तिथि के विषय में कोई निश्चितता नहीं स्थापित हो सकी है।

1.2.3 कुल्लूकभट्ट :

मनु पर जितने भाष्य हुए हैं, उनमें कुल्लूक की मन्वर्थमुक्तावली नामक टीका सर्वश्रेष्ठ है। इसके कई प्रकाशन भी हो चुके हैं। कुल्लूक का भाष्य संक्षिप्त, स्पष्ट एवं उद्देश्यपूर्ण है। इन्होंने सदैव विस्तार से बचने का उपक्रम किया है, किन्तु इनमें मौलिकता की कमी पाई जाती है। इन्होंने मेधातिथि, गोविन्दराज के भाष्यों से बिना कृतज्ञता–ज्ञापन के उद्धरण से लिए हैं। कहीं–कहीं इन भाष्यकारों की इन्होंने कटु आलोचनाएँ भी की है। इन्होंने अपने भाष्य की भूरि–भूरि प्रशंसा की है। कुल्लूक ने निम्नलिखित लेखकों के नाम लिये हैं– गोविन्दराज, धरनीधर, भाष्कर (वेदान्त सूत्र के भाष्यकार), भोजदेव, मेधातिथि, वामन (काशिका के लेखक), भट्टवार्तिक कृत, विश्वरूप। इन्होंने अपने बारे में भी तनिक लिख दिया है। ये बंगाल के बारेन्द्र कुल के नन्दन निवासी भट्टदिवाकर के पुत्र थे। इन्होंने पण्डितों की संगति में काशी में अपना भाष्य लिखा।

कुल्लूक ने स्मृतिसागर नामक एक निबंध लिखा जिसके केवल अशोच सागर एवं विवादसागर नामक प्रकरणों के अंश अभी तक प्राप्त हो सके हैं। श्राह्टसागर में पूर्व मीमांसा संबंधी विवेचन भी है। कुल्लूक ने लिखा है कि उन्होंने अपने पिता के आदेश से विवादसागर, अशोचसागर एवं श्राद्धसागर लिखे। इनमें महाभारत के प्रमुख उद्धरण हैं। महापुराणों, उपपुराणों धर्मसूत्रों एवं अन्य स्मृतियों की चर्चा यथास्थान होती चली गयी है। भोजदेव, हलामुध जिकन कामधेनु, मेधातिथि, शंखधर आदि के नाम भी आये हैं।

कुल्लूक का तिथि का प्रश्न कठिन है। बुहलर एवं चक्रवर्ती ने उन्हें 15वीं शताब्दी में रखा है। कुल्लूक ने भोजदेव गोविन्दराज, कल्पतर एवं हलायुद्ध की चर्चा की है अतः वे 1150ई. के बाद ही हुए होंगे। रघुनंदन ने अपने दायित्व एवं व्यवहार तत्व में तथा वर्द्धमान में अपने दण्डविवेक में उनके मतों की चर्चा की है। अतः कुल्लूक 1300ई. के पूर्व हुये होंगे। वे संभवतः 1150–1300 ई. के बीच कभी हुए होंगे।

ISBN: 978-81-19149-32-2

अध्याय 2

मनुस्मृति : मूल पाठ एवं अर्थ

राजधर्मान्प्रवच्यामि यथावृत्तो भवेन्नृपः।

संभवश्र यथा तस्य सिद्धिश्रच परमा यथा।।

(भृगु मुनि महर्षियों से कहते है– में) राजा (अभिषिक्त नृपति) के आचार, उत्पत्ति और इस लोक तथा पर लोक तथा परलोक में होनेवाली उत्तम सफलता होवे ऐसे राजधर्म (दृष्टा–दृष्ट कर्त्तव्य) को कहूँगा।।

ब्राह्यं प्राप्तेन संस्कारं क्षत्रियोण यथाविधि।

सर्वस्यास्य यथान्यायं कर्त्तव्यं परिरक्षणम्।।

शास्त्रानुसार वेद को प्राप्त (उपनयन संस्कार से युक्त) क्षत्रिय (अभिशिक्त राजा) न्यायपूर्वक (अपने राज्य में रहनेवाली) सब प्रजा की रक्षा करें।

अराजके हिलाके स्मिन्सर्वतो विद्वते भयात्।

रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानमसूजत्प्रभुः।।[1]

इस संसार को बिना राजा के होने पर बलवानों के डर से (पुजाओं के) इधर–उधर भागने पर सम्पूर्ण चराचर की रक्षा के लिए भगवान ने राजा की सृष्टि की।

इन्द्रानिलयमार्काणामग्नेश्रय वरूणास्य च।

चन्द्रवित्तेशयोश्रचेव मात्रा निर्हत्य शाश्वतोः।।[2]

(ईश्वर ने) इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, अग्नि, वरूण, चन्द्रमा और कुबेर का सारभूत नित्य अंश लेकर (राजा की सृष्टि को)।।

यस्मादेषां सुरेन्द्राणां मात्राम्यो निर्मितो नृपः।

तस्मादभिभवत्येष सर्वभूतानि तेजसा।।[3]

चूँ राजा इन्द्र आदि सब देवों के नित्य अंश से रचा गया है, इस कारण यह (राजा) तेज से सब जीवों को अभिभूत (पराजित) करता है।

तपत्यादित्यवच्चैष चक्षुषि च मनांसि च।

न चेनं भूमि शक्नोति कश्चिदप्यभिवीक्षितुम्।।

यह राजा देखनेवालों के नेत्र तथा मन को सूर्य के समान संतप्त करता है, अतः पृथ्वी पर कोई भी इसे देखने में समर्थ नहीं होता।

सौऽग्निर्भवति वायुश्च सोऽकीं सोमः स धर्मराट्।

स कुवेरः स वरूणः स महेन्द्रः प्रभावतः।।

वह राजा प्रभाव (अपनी अधिक शक्ति) से अग्निरूप है, वायुरूप है, सूर्यरूप है, चन्द्ररू‍प है, धर्मराज (यम) रूप है, कुवेररू‍प है और महेन्द्ररूप है।

बोलोऽपि नावमन्तव्यो मनुष्य इति भूमिपः।

महती देवता होष्ण नररूपेण तिष्ठति।।

(अतएव) ''यह मनुष्य हो तो है'' ऐसा मानकर बालक राजा का भी अपमान न करे, क्योंकि यह राजा के रूप में देवता (देवोशक्ति) स्थित रहता है।

एकमेव दयत्यग्निर्मरं दुरूपलपिण्डम्।

कुलं दहति राजाग्निः सपशुद्रव्यसंवयम्।।

(अब राजापमान का दृष्ट दोष कहते हैं–) अग्नि केवल असावधानी से स्पर्श करनेवाले को ही जलाती है, किन्तु राजाग्नि (कुद्ध राजरू‍प अग्नि) चिरसचिव से स्पर्श करनेवाले को ही जलाती है, किन्तु राजाग्नि (कुद्ध राजरूप अग्नि) चिरसचिव पशु तथा धन के सहित समस्त कुल (वंश) को ही जला देती है।

कार्ये सोऽवेक्ष्य शक्ति च देशकालो च तत्वतः।

कुरूते धर्मसिद्धश्यर्थे विश्वरूपं पुनः पुनः।।

वह (राजा) प्रयोजन के अनुसार कार्य तथा शक्ति का वास्तविक विचार कर धर्म (कार्य) सिद्धि के लिए बार–बार अनेक रूप धारण करता है।

यस्य प्रसादे पद्मा श्रीविंजयश्च पराक्रमे।

मृत्युश्च वसंति क्रोधे सव्रतेजोमयो हिसः।।[4]

जिस (राजा) की प्रसन्नता में लक्ष्मी, पराक्रम में विजय और क्रोध में मरण रहते हैं, अतः वह राजा सर्वतेतोमय है।।

तं यस्तु द्वेष्टि संमोहात्स विनश्यत्यंसंशयम्।

तस्य ह्याशु विनाशाय राजा प्रकुरूते मनः।।

जो कोई अज्ञानवश होकर राजा के साथ द्वेष करता है, वह निःसंदेह शीघ्र हो नष्ट हो जाता है, क्योंकि राजा उसके विनाश के लिए मन को नियुक्त करता (चेष्टायुक्त होता) है।

मस्ताद्धर्मे यमिष्टेषु स व्यवस्येन्नराधिपक्ष।

अनिष्टं चाप्यनिष्टेषु तं धर्म न विचालयेत्।।

अतएव वह राजा (शास्त्र मर्यादा के अनुसार) अपेक्षित कार्यो में जिस धर्म की व्यवस्था करता (जिस कानून की बनाता) है, उसे नहीं चाहनेवालों को अनिष्ट (अनिमिलपित) भी उस धर्म का उल्लंधन नहीं करना चाहिये अर्थात उस कानून को तोड़ना नहीं चाहिये।

तस्यार्थे सर्वभूतानां गोप्तारं धर्ममात्मजम्।

ब्रह्मतेजोमयं दण्डमसृजत्पूर्वमीश्वरः।।[5]

उस (राजा) की कार्यसिद्धि के लिए भगवान ने सम्पूर्ण जीवों के रक्षक, धर्मस्वरूप पुत्र, ब्रह्म के तेजोमय दण्ड की सृष्टि की।

तस्य सर्वाणि भूतानि स्थावराणि चराणि च।

भयाभूदोगाय कल्पन्ते स्वधर्मान्न चलन्ति च।।

उस दण्ड के भय से यथावर तथा जंगम सभी जीव (अपने–अपने) भोग (को भोगने) के लिए समर्थ होते हैं और अपने–अपने धर्म (राजनियम) से विचलित (भ्रष्ट) नहीं होते हैं।

त देशकलां शक्ति च विद्यां चावेक्ष्य तत्वतः।

यथार्हतः संप्रणयेन्नरेष्वन्यायवर्तिपु।।

(राजा) देश, काल, दण्डशक्ति और विद्या (जिस अपराधो के लिए जो दण्ड उचित हो उसका शान) का ठीक–ठीक विचारकर अन्यायवर्ती (अपराधी) व्यक्तियों में शास्त्रानुसार उस दण्ड को प्रयुक्त करे अर्थात अपराधियों को उचित दण्ड दें।

स राजा पुरूषो दण्डः स नेता शासिता च सः।

चतुर्गामाश्रमार्णा च धर्मस्य प्रतिभूः स्मृतः।।

वह दण्ड ही राजा है (क्योंकि दण्ड में ही राज करने की शक्ति में) वह दण्ड पुरूष (मर्द) है और अन्य सभी लोग उस दण्ड के विधेय (विनय ग्रहण में शासनीय) होने से स्त्री तुल्य है, वह दण्ड नेता है। उस दण्ड शासन करनेवाला है, (क्योंकि दण्ड को आज्ञा से ही सब अपने–अपने कर्म में संलग्न है) और वह दण्ड चारों आश्रमों के धर्म का प्रतिभू (जमींदार मध्वस्थ मनु आदि महर्षियों के द्वारा) कहा गया है।

दण्ड शास्ति पूजा, सर्वा दण्ड एवाभिरक्षति।

दण्डः सुप्तेषु जागर्ति दण्डं धर्मे विदुर्बुधाः।।[6]

दण्ड ही सर्व प्रजाओं का शासन करता है दण्ड हो सब प्रजाओं की रक्षा करता है, सबके सोते रहने पर दण्ड ही जागता है (क्योंकि उसी दण्ड के भय से चोर आदि चोरी आदि दुष्कर्म नहीं करते), विद्वान लोग दण्ड को धर्म (का हेतु) समझते हैं।

समीक्ष्य स धृतः सम्यक्सवां रज्जयति प्रजाः।

इसमीक्ष्य प्रणीतस्तु विनाशयति सर्वतः।।

शास्त्रानुसार यथावत् विचार कर दिया गया दण्ड सब प्रजाओं को अनुरक्त करता है और बिना विचार किये धन लोभ या प्रमाद से दिया गया दण्ड सब तरफ से (धन–जन का) नाश करता है।

यदि न प्रणयेद्राजा दण्डं दण्डयेश्वतन्द्रितः।

शूले मत्स्यनिवापक्ष्यन्दुर्वतान्बलवत्तराः।।

यदि राजा आलस्य छोड़कर दण्ड के योग्यों (अपराधियों) में दण्ड का प्रयोग नहीं करता तो बलवान् लोग दुर्जनों को जैसे मछलियों को लोहे के छड़ में छेद कर पकाते हैं, जैसे पकाने लगते–

अद्यात्काकः पुरोडाशश्वाच लिह्खद्धविस्तथा।

स्वाम्यं च न स्थात्कम्मिंश्चित्प्रवर्तेताधरोत्तरम्।।[7]

(यदि राजा अपराधियों में दण्ड प्रयोग नहीं करता, तो) कावा पूरीडाश (यज्ञान) को खाने लगता, कुत्ता हविष्यात्र को चाटने लगता (अनाधिकारी वेद वाह्य मूंख यश को दूषित करने लगते), किसी पर किसी का प्रभुत्व नहीं रह जाता (बलवान दुर्बल की सम्पत्ति छीन या लूट कर स्वयं मालिक बन बैठता) और नीचले लोग ही बड़े बनने लगते।

सर्वो दण्डजितो लोको दुर्लभो हि शुचिर्नरः।

दण्डस्यहि भयात्सर्वे जगछ्भोगाय कल्पते।।

सब लोग दण्ड से जीते गये हैं (दण्ड के भय से ही नियमित होकर अपने–अपने कार्य में लगे है), (बिना दण्ड के) स्वभाव से ही शुद्ध मनुष्य दुर्लभ है, दण्ड के भय से ही सम्पूर्ण संसार (अपने–अपने धनादि को) भोगने के लिए समर्थ होता है।

देवज्ञानवगन्ध्वा रक्षासि पतगोरगाः।

तेऽपि भोगाय कल्पन्ते दण्डेनव निपीडिताः।।[8]

देव (इन्द्र, अग्नि, सूर्य, वायु आदि), दानव, गन्धर्व, राक्षस, पक्षी और सर्प (नाग) वे भी (परमात्मा के) दण्ड के भय से पीड़ित होकर भोग (वर्षा आदि करने) के लिए प्रवृत्त होत है।

दुष्येयुः सर्ववर्णाश्च विभेनन्सवेंसेतवः।

सर्वलोकप्रकोपश्च भवेदण्डस्य विभ्रमात्।।

दण्ड के विभ्रम (अभाव या अनुचित प्रयोग) से सब वर्ग (ब्राह्मण क्षत्रिय आदि) दूषित (परस्त्री संभोग से वगक्डर) हो जाय, सब मर्यादा (चतुवर्त–फल प्राप्ति का कारण भूत नियम) छिन्न–भिन्न हो जायं और सब लोगों में (चोरी, डाका, व्यभिचार आदि से) क्षोभ उत्पन्न हो जाय।

यत्र श्यामो लोहिताक्षो दण्डश्चरति पापदा।

प्रजास्तत्र न मुहन्ति नेता चेत्साधु पश्यति।।

श्याम वर्ग (शरीर वाला), लाल, नेत्रोवाला (दण्ड का स्वरूप ऐसा शास्त्रों में वर्णित है) और पापनाशक दण्ड जिस देश में विचरण करता (राजा आदि शासकों के द्वारा प्रयुक्त किया जाता) है, उस देश में यदि नेता (राजा आदि शासक) उचित दण्ड देता हे तो (वहाँ रहनेवाली) प्रजा दुःखित नहीं होती।

तस्याहुः संप्रणेतारं राजानं सत्यवादिनम्।

समीक्ष्यकारिणं प्रज्ञं धर्मकामार्थकोविदम्।।[9]

(मनु आदि महर्षियों ने) उस दण्ड प्रयोग करनेवाले राजा (या अन्य राज–नियुक्त शासक) को सत्यवादी, विचार कर करनेवाला, बुद्धिमान और धर्म तथा अर्थ का जानकार होना बतलाया है।

तंराजा प्रण्यन्ससम्यक् त्रिवर्गेगाभिवर्धते।

कामात्मा विषमः क्षुदो दण्डेनेव निदन्यते।।

उस (दण्ड) का यथायोग्य प्रयोग करता हुआ राजा (या राज–नियुक्त पुरूष) त्रिवर्ग (अर्थ, धर्म और काम) से समृद्धियुक्त होता है (और इसके विपरीत) विषयाभिलाषी, क्रोधी, शुद्र (नीच स्वभाव होने से बिना विचार किये दण्ड प्रयोग करनेवाला) राजा दण्ड के द्वारा ही मारा जाता है (अमात्यादि प्रकृति के कोप होने पर नष्ट हो जाता है)।

दण्डोहि सुमहस्तेजो दुर्धरश्चाकृतात्मभिः।

धर्माद्विचलितं हन्ति नृपमेव सवान्धवम्।।[10]

अति तेजस्वी तथा असंयत आत्मावालों से दुधर (कठिनता से धारण करने योग्य) दण्ड धर्म से भ्रष्ट (अनुचित दण्ड प्रयोग करनेवाले) राजा को बान्धव सहित नष्ट कर देता है।

लतो दुर्गे च राष्ट्र च लोक च सचराचरम्।

अन्तरिक्षगताश्चैव मनुनीन्देवांश्च पीडयेत्।।

फिर यर्थात् सवान्धव राजा को नष्ट करने के बाद (बिना दोष का विचार किये प्रयुक्त किया गया दण्ड) किला, राज्य, चराचर के सहित पृथ्वी तथा अन्तरिक्षगामी मुनियां एवं देवताओं को (यज्ञादि भाग न मिलने से) पीड़ित करता है।

सोडहहायेन मूढ़ेन लुब्धेनाकृतबुद्धिना।

न शक्यो न्यायतो नेतु सक्तेन विषयपु च।।

असहाय, मूर्ख, लोभी, शास्त्र–शान–हीन और विषयों में आसक्त (राजा आदि) के द्वारा न्यायपूर्वक दण्ड प्रयोग नहीं किया जा सकता है।

शुचिना सत्यसन्धेन यथाशास्त्रानुसारिणा।

प्रणेतुं शक्यते दण्डः सुसहायेन धीमता।।

धनादि के विषय में शुद्र, सत्यप्रतिज्ञ, शास्त्रानुसार व्यवहार करनेवाला, अच्छे सहायकों वाला और बुद्धिमान (राजा आदि) के द्वारा दण्ड का प्रयोग किया जा सकता है।

स्वराष्ट्रे न्यायवृत्तः स्याद् भृगदण्डश्च शत्रुधु।

सुदृत्स्वजिह्यः स्त्रिधेषु ब्राह्मणेषु क्षमान्वितः।।

अपने राज्य में न्यायानुसार दण्ड प्रयोग करे, शत्रुओं के देश में कठोर दण्ड का प्रयोग करे, स्वाभाविक मित्रों में सरल व्यवहार करे और (छोटे अपराध करने पर) ब्राह्मणों में क्षमा को धारण करे।

एव वृत्तस्य नृपतेः शिलोञ्छेनापि जीवतः।

विस्तीर्यते यशो लोके तेलबिन्दुरिवाम्भसि।[11]

इस प्रकार व्यवहार न्याय से (दण्ड प्रयोग) करनेवाले, शिलोच्छ वृत्ति से भी जीविका करनेवाले अर्थात ऐश्वर्यहीन भी राजा का यश पानी में तेल की बूंद के समान संसार में फैलता है।

इतस्तु विपरीतस्य नृपतेरजितात्मनः।

संक्षिप्तते यशो लोक धृतबिन्दुरिवाम्भसि।।

इस (7/31) के प्रतिकूल दण्ड प्रयोग करनेवाले, अजितेन्द्रिय राजा का यश पानी में भी बूंद के समान संक्षिप्त होता (घटता) है।

स्वे स्वे धूर्मे निविंष्टानां सर्वेषामनुपूर्वशः।

वर्णानामाश्रमाणं च राजा सृषोडभिरक्षिता।।

अपने–अपने धर्म में संलग्न सब वर्णो और आश्रमों की रक्षा करनेवाले राजा को ब्रह्मा ने बनाया है।

तेन यद्यत्सभृत्येन कर्त्तव्यं रक्षता प्रजाः।

तत्द्वौडहं प्रचक्ष्यामि यथाचदनुरूर्वशः।।

(भृगु मुनि महर्षियों से कहते हैं कि –(भृत्यों) अपने अधीनस्थ अमात्यादि) के साथ प्रजा की रक्षा करनेवाले राजा का जो–जो कर्त्तव्य है, वह–वह क्रम से शास्त्रानुसार में आप लोगों से कहूँगा।

ब्रह्माणान्पर्युपासीत प्रातरूत्थाय पार्थिवः।

त्रैविधवृद्धान्विदुपस्तिष्ठेत्तेषां च शासने।।

राजा प्रतिदिन प्रातःकाल उठकर ऋग्यजुसामने ज्ञाता और विद्वान (नीतिशास्त्र के ज्ञाता) ब्राह्मणों की सेवा करे और उनके शासन में रहे (उनके कहने के अनुसार कार्य करे)।

वृद्धाश्च नित्यं सेवेत विप्रान्वेदविदः शुवीन्।

वृद्वासेवी हि सततं रक्षोभिरपि पूज्यते।।

(ज्ञान तथा तपस्या से) वृद्ध, वेत ज्ञात और शुद्र हृदयवाले उन ब्राह्मणों की नित्य सेवा (आदर–सत्कार) करे, क्योंकि वृद्धों की सेवा करनेवाले की राक्षस (क्रूर प्रकृतिवाले) भी पूजा करते है (फिर मनुष्यों की क्या बाते है)।।[11]

तेम्योडधिगच्छेद्विनयं विनीतात्मापि नित्यशः।

विनीतात्मा हि नृपतिर्न विनश्यति कहिचित्।।

उन (वृद्ध ब्राह्मणों) से पहले से विनययुक्त भी राजा सर्वदा और अधिक विनय सीखे, क्योंकि विनययुक्त राजा कभी नष्ट नहीं होता है।

वहवोडविनयान्नष्टा राजानः सपरिच्छदाः।

वनस्था अपि राज्यानि विनयात्प्रतिपेदिरे।।

अभिनय के कारण बहुत से राजा घोड़ा, हाथी आदि साधनों सहित नष्ट हो गये और विनय के कारण वन में रहनेवाले (घोड़ा, हाथी आदि साधनों से रक्षित) भी राज्यों को पा गये, (अतः विनयी होना परमावश्यक है)।

वेनो विनष्टोडविनयान्नहुष्चैव पार्थिवः।

सुदाः पेजवानश्चैव सुमुखो निमिरेव च।।

अविनय के कारण वेन, नहुष, पिजवन के पुत्र सुदा, सुपुत्र और नेमि राजा नष्ट हो गये।

पृथुन्तु विनयाद्राज्यं प्राप्तवान्मुरेव च।

कुवेरव्य धनेश्चर्य ब्राह्मणर्य चैव गाधिजः।।

विनय के कारण प्रभु और मनु ने राज्य, कुवेर ने धन, ऐश्वर्य और विश्वामित्र ने (क्षत्रिय होकर भी) ब्राह्मणत्व को प्राप्त किया।[12]

त्रैविद्येम्यस्त्रयों विद्यां दण्डनीतिं च शाश्वतीम्।

आन्वीक्षिकों चात्मविद्यां वार्तारम्भाश्च लोकतः।।

(राजा) त्रिवेदी के शाता विद्वानों से त्रयी विद्या नित्य दण्डनीति विद्या, अन्वीक्षिकी विद्या और लोक व्यवहार से वार्ता विद्या को सीखे।

इन्द्रियार्णा जये योगं समातिष्ठेहिवानिशम्।

जितेन्द्रियों हि शक्तोति वशे स्थापयितुं प्रजाः।[13]

राजा इन्द्रियों को जीतने में सर्वदा प्रयत्नशील रहे, क्योंकि जितेन्द्रिय (राजा) प्रजाओं को वश में रखने के लिए समर्थ होता है।

दश कामसमुत्थानि तथाष्टों क्रोधजानि च।

व्यसनानि दुरन्तानि प्रयत्नेन विवर्जयेत्।।

(राजा) कामजन्य दश तथा क्रोधजन्य आठ, अन्त में दुःखदायी व्यसनों को प्रयत्नपूर्वक त्याग कर दें।

कामजेषु प्रसक्तो हि व्यसनेन महोपतिः।

वियुज्यतेडर्थधर्माभ्यां क्रोधजेष्वात्मनैव तु।।

क्योंकि कामजन्य व्यसनों (6147) में आसक्त राजा अर्थ तथा धर्म से भ्रष्ट हो जाता है और क्रोधजन्य व्यसनों में आसक्त राजा आत्मा से ही भ्रष्ट (स्वयं नष्ट) हो जाता है।

मृगयाडक्षो दिवा स्वप्नः परिवादः स्त्रियों मदः।

तार्यत्रिर्क वृधाटव्या च कामजो दशको गणः।

मृगया (शिकार), जुआ, दिन में सोना, परायेको निन्दा, स्त्री में अत्यासक्ति, मद (नशा–मद्यपान आदि) नाच–गाने में अत्यासक्ति और व्यर्थ (निष्प्रयोजन) भ्रमणः ये दस कामजन्य व्यसन है।

पेशुन्यं साहसं द्रोह ईर्ष्यासूयार्थदूषणम्।

चादण्डजं च पारूष्यं क्रोधजोडपि गणोडष्टक।।

चुगलखोरी, दुस्साहस, द्रोह, ईर्श्या (दूसरे के गुण को न सहना), असूया (दूसरों के गुणों में दोष बतलाना), अर्थदोर्ष (धनापहरण या धरोहर आदि को वापस नहीं करना) कठोर वचन और कठोरदण्ड, ये आठ क्रोधजन्य व्यसन है।

द्वयोरष्येतयोमूलयं सर्वे कवयो विकुः।

त स्रत्नेन जयेज्लोभं तज्जावेताबुभो गणो।।

सब विद्वान लोग इन दोनों (कामज व्यसन–समुदाय तथा क्रोध्ज व्यसन–समुदाय, (दे0 6147–48) की जड़ जिसको मानते हैं, उस लोभ को यत्नापूर्वक जीते अर्थात् छोड़ दे, क्योंकि ये दोनों (काजन्य तथा क्रोधाजन्य व्यसन–समुदाय) उस (लोभ) से उत्पन्न होने वाले हैं।

पानमक्षाः स्त्रियाचैव मृगया च यथाक्रमम्।

एतत्कष्टतमें विद्याच्चतुर्ष्क कामजे गणे।।

कामजन्य व्यसन–समुदाय में (6147) में मद्यपान, जुआ, स्त्रियां और शिकार (आखेट) इन चारों को क्रमशः अत्यन्त कष्टदायक जाने।[14]

दण्डम्य पातनं चैव वाक्पारूष्यार्थदूषणे।

क्रोधजेडपि गणे विद्यात्कष्टमेत् त्रिकं सदा।।

क्रोधजन्य व्यसन–समुदाय (6148) में दण्ड–प्रयोग, कटु, वचन और अर्थ दूषण (अन्याय से दूसरे को सम्पत्ति हड़प लेना), इन तीनों को क्रमशः सर्वदा अति कष्टदायक जाने।

स्पतकस्यास्य वर्गस्य सर्वत्रेवानुषङ्गिणः।

पूर्व पूर्व गुरूतरं विद्याद्वयसनमात्मवान्।।[15]

सम्पूर्ण राजमण्डल में रहनेवाले इन सात व्यसन समुदाय (चार कामजन्य व्यसन–समुदाय, दे0 6150 और तीन क्रोधजन्य व्यसन–समुदाय दे0 6151) में से पूर्व पूर्व (अगले की अपेक्षा पहलेवाले) को जितेन्द्रियपुरूष गुरूतर (अधिक कष्टदायक) समझे।

व्यसनस्य च मृत्योश्च व्यसन कष्टमुच्यते।

व्यसन्यधोडधो ब्रजति स्वयांत्यव्यसनी मृतः।।

(व्यसन तथा मृत्यु– दोनों के कष्टकारक होने पर) मृत्यु की अपेक्ष व्यसन अधिक कष्ट कारक है, क्योंकि मरा हुआ व्यसनी पुरूष नरकों में (एक्के वाद दूसरे नरक में) जाता है और मरा हुआ व्यसन रहित पुरूष स्वर्ग में जाता है।

मौलाच्छास्त्रविदः शूराल्लब्धलक्षान्कुलोन्द्रकान्।

सचियान्सप्त खाष्टो वा प्रकुर्वीत परीक्षितान्।।

(राजा) वंशक्रमागत, शस्त्रज्ञाता, शूरवीर, निशाना मारनेवाले (शस्त्र चलाने में निपुण) उत्तम वंश में उत्पन्न और रीक्षित (शपथ ग्रहण आदि से परीक्षा किये गये) सात या आठ मंत्रियों का नियुक्त करें।

अपि यत्सुकरं कर्म तदप्येसेन दुष्करम्।

विशेषतोऽसहायेन किंतु राज्यं महोदयम्।।

जो कार्य सरल है, वह भी एक आदमी के लिए कठिन होता है। विशेषकर महान फलकों देनेवाला राज्य असहाय (अकेले राजा) से कैसे सुसाध्य हो सकता है? (कदापि नहीं हो सकता, अतः राजा को पूर्व श्लोक में वर्णित गुणों वाले मंत्रियों को नियुक्त करना चाहिये)।

तैः साधे चिन्तयेन्नित्यं सामान्य सन्धिविग्रहम्।

स्थानं समुदयं गुप्ति लब्धप्रशमनानि च।।[16]

(राजा) उन (मंत्रियों) के साथ में सन्धि–विग्रह (षड्गुण), स्थान, समुदाय, गुप्ति और मिले हुए का उपयोग इनका चिन्तन (सलाह–मसविरा अथार्थ परामर्श) करे।

तेषां स्वं स्वमभिप्रायमुपलभ्य पृथक् पृथक्।

समस्तानाां च कार्येशु विद्याद्वितमात्मनः।।

(राजा) उन (मंत्रियों) के अभिप्राय को (एकान्त में) अलग–अलग तथा सर्वो के अभिप्राय को इकट्ठा जानकर अपना हितकारी कार्य करे।

सर्वेषां तु विशिष्टेन ब्राह्मणेन विपश्चिता।

मंत्रयेत्परमं मंत्र राजा षाड्गुण्यसंयुतम्।।

राजा उन मंत्रियों में से विद्वान धर्मादि युक्त विशिष्ट एक ब्राह्मण के साथ षड्गुण (71160) से युक्त श्रेष्ठ मंत्र (गुप्त विचार) की मंत्रणा करे।

नित्यं तम्मिन्समाश्वस्तः सर्वकार्याणि निःक्षिपेत्।

तेन साधे विनिश्चित्य ततः कर्म सामरनेत्।।

राजा उस (विद्वान तथा धर्मात्मा ब्राह्मण) पर पूर्ण विश्वास कर (उसे) सब काम सौप दे, तथा उसके साथ निश्चय कर बाद में कार्य का आरंभ करे।

अन्यानपि प्रकुर्वीत शुवीन्प्राज्ञानवस्थितान्।

सम्यगर्थसमाहततनमात्यान्सुपरीक्षितान्।।

(राजा इसके अलावे) दूसरे शुद्ध (वंश परम्परा से शुद्ध या धूल आदि न लेने से शुद्ध ह्रदयवाले), बुद्धिमान, स्थिरचित (आपत्ति काल) में भी नहीं घबराने वाले थी। किसी के दबाव या लोभ से

होने पर भी राज–हित में ही दृढ़ रहने वाले सब प्रकार न्यायपूर्वक धन–धान उत्पन्न करनेवाले सुपरीक्षित मंत्रियों को नियुक्त करें।

निर्वर्तेतास्य यावभिदरितिकर्तव्यता नृभिः।

तावतोऽतन्द्रितान्दक्षान्प्रकुचींत विचक्षाणान्।।

इस (राजा) का कार्य जितने मनुष्यों से पूरा हो, आलस्यरहित, कार्य करने में उत्साही और काम के जानकार उतने ही मनुष्यों को (मंत्रीमद पर) नियुक्त करे।

तेषामर्थे नियुज्जजीत शूरानदक्षान्कुलागतान्।

शुवीनाकरकमन्निते भीरूनन्तर्निवेशने।।

(राजा) उन (मंत्रियों) में से शूरवीर, उत्साही, कुलक्रमागत, शुद्धचित्र (घूस न लेनेवाले और चोरी अर्थात गबन नहीं करनेवो) मंत्रियों को धन–धान्य के संग्रह करने में (सोने आदि के खानों तथा अन्न उत्पादक स्थानों में) और मीरू (डरनेवालें) को महल (रनिवास, भोजन, गृह शयनगृह आदि) में नियुक्त करें।

दूस चेय प्रफुवींत सर्वशास्त्रविश्गरद्म्।

इडिंगताकारचेष्टशं शुचि दक्ष कुलोद्गत्।।[17]

राजा सब शास्त्रों का विद्वान् इंगित (वचन तथा स्वर अर्थात् कुकु आदि अभिप्राय–सूचक भाव), आकार क्रमशः प्रेम एवं उदासीनता का सूचक प्रसन्नता एवं उदासीनता (का सूचक प्रसन्नता एवं उदासीनता) और चेष्टा (क्रोधादि का सूचक नेत्रों का लाल होना, भोह टेढ़ा करना आदि) को जाननेवाले, शद्रह्रदय राज–धन को अधिक व्यय करना, स्त्री आसक्ति, द्यूत, मद्यपान आदि से रहित, चतुर तथा कुलीन दूत की नियुक्ति करे।

अनुरक्तः शुचिर्दक्षः स्मृतिमान्देशकालवित्।

वपुध्मान्वीतभीर्वाग्मी दूतो राशः प्रशस्यते।।

सन्धिविग्रहकालशान्समर्थानियतिक्षमान्।

परेरहायच्छिुद्धाश्च धर्मतः कामतोऽर्थतः।

समाहर्तु प्रकुर्वीत सर्वशास्त्रविपश्चितः।

कुलीनान्वृत्ति सम्पन्नान्निपुणान्कौश्वृद्धये।।

आयव्ययस्य कुशलान्गणिएातज्ञानलोलुपान्।

नियोजयेद्धर्मनिष्ठान्सम्यकायार्थचिन्तकान्।।

कर्मणि चासिकुशलान्लिपिज्ञानायतिक्षामान्।

सर्वविश्यासिनः सत्यान्सर्वकायेषु निश्चितान्।।

अकृताशास्तथा भर्तुः कालज्ञांश्च प्रसडिंगनः।

कार्यकामोपधाशुद्धान् वाह्यम्यन्तरचारिणः।।

कुर्यादासन्नकार्येषु गृहसंरक्षणेषु च।[18]

अनुरक्त, शुद्ध, चतुर, स्मरणशक्ति वाला, देश और काल का जानकार, सुस्त, निर्भय और वाग्मी राजदूत श्रेष्ठ होता है।

(राजा) सन्धि, विग्रह (आदि षड्गुन–1160) तथा समय को जानने वाले, समर्थ, आयति (आनेवाला समय) में समर्थ, और धर्म, अर्थ तथा काम से शत्रुओं के द्वारा अपने पक्ष में नहीं किये जानेवाले (राजदूतों को नियुक्त करे)।

अपने पक्ष प्रबल करने के लिए सब शास्त्रों का ज्ञाता और कोशवृद्धि के लिए कुलीन, अच्छी जीविका (वेतन) वाले तथा निपुण (राजदूतों) को नियुक्त करे।

आय तथा व्यय करने में कुशल (उचित आय को नहीं छोड़नेवाला तथा अनुचित व्यय को नहीं करनेवाला), गणितज्ञ, निर्लोभ, धर्मयुक्त और अच्छी तरह कार्य एवं अर्थ का विचार करनेवाले (राजदूतों को नियुक्त करे)।

कार्य (के करने) में अत्यन्त चतुर, (अनेक) लिपियों को जाननेवाले, भविष्यकाल के लिए समर्थ, सबका विश्वासपात्र, सच्चा, सब कार्यो में निश्चित (राजदूतों को नियुक्त करे)।

आशा नहीं रखनेवाले (स्वामी मुझे कार्य सिद्धि होने पर कुछ हिस्सा देंगे, या बड़ा पारितोषिक देंगे, ऐसी आशा नहीं रखनेवाले– अन्यथा स्वामी की कार्यसिद्धि होने पर आशानुसार न मिलने से वही राजदूत भारी विरोधी हो सकता है तथा यदि आशा नहीं रखेगा तब सदा अनुकूल ही रहेगा), कालश (अवसर नहीं चूकनवाले), प्रसंगानुसार कार्य करनेवाले, कार्य काम तथा उपधा (धरोहर) में सच्चे और बाहर–भीतर आने–जानेवाले दूतों को नियुक्त करे।

समीप (मंत्री आदि) के कार्य में तथा अन्तःपुर (रनिवास) की यथावत् रक्षा करने में दूतों को नियुक्त करे।

अमात्य दण्ड आयत्तो दण्डे वेनयिकी किया।

नृपतो कोशराष्ट्रे च दूते संधिविपर्ययो।।[19]

सेनापति के अधीन दण्ड (हाथी, घोड़ा, रथ और पैदल सेना), दण्ड के अधीन विनय कार्य (सर को विनम्रवश में रखना), राजा के अधीन बोध तथा राजय और दूत के अधीन संधि और विग्रह होते हैं।

दूत एवं हि संधते भिनस्येव च संहतान्।

दूतस्तत्कुरूते कर्म भिद्यन्ते येन मानवाः।।

दूत ही (शत्रु से) मेल करा देता है, और मिले हुए (शत्रु) से विग्रहक करा देता हैः दूत वह कार्य कर देता है, जिससे (मिले हुए भी) मनुष्य (परस्पर में) फूट जाते हैं।

स विद्यादस्य कृत्येपु निगूढेडिंगतचेष्टितेः।

आकारमिडिंगत चेष्टां भृत्येपु च चिकीपिंतम्।।

वह (रामदूत) इस (शत्रु राजा) के कृत्यों (कर्त्तव्य अर्थात धन, स्त्री पर या राज्य भाग के द्वारा राजदूतों को वश में करना आदि) में शत्रुराजा के अनुचरों के इंगित (अभिप्रायसूचक बात और स्वर आदि) तथा चेष्टाओं हाथ, मुख अंगुली आदि की इशारेवाजी से (शत्रुराजा के) क्षुब्ध या लुब्ध भृत्यों में (शत्रुराजा के) आकार (मुखकी प्रसन्नता या उदासीनता आदि), इंगित चेष्टा और विकीक्ति (अभिलपित कार्य को मालूम करे)।[20]

बुद्धवा च सर्वे तत्वेन परराजचिकीर्पितम्।

तथा प्रयत्नमातिष्ठेद्यथा त्मानं न पीडयेत्।।

शत्रु राजा के चिकीपिंत (अभिलषित कार्य) को ठीक–ठीक मालूम कर वैसा प्रयत्न करे जिससे अपने को कष्ट न हो।

जांगलं सस्यसंपन्नमार्यप्रायमनाबिलम्।

रम्यमानतसामंतं स्वाजीव्यं देशमावसेन्।।

(राजा) जंगल, धान्य और अधिक धर्मात्माओं से युक्त, आकुलतारहित, (फल–फूल लता वृक्षादि से) रमणीय जहाँ आस–पास के निवासी नम्र हो ऐसे, अपनी आजीविका (सुलभ व्यापार, खेती आदि) वाले देश में निवास करे।

अल्पोदकतृगो यस्तु प्रवातः प्रचुरातपः

स ज्ञेयो जंगलो देशो बहुधान्यादिसंयुतः।।

धन्दुर्गे महीदुर्गमब्दुर्गे वार्क्षमेव वा।

नृदुर्गे गिरिदुर्गे वा समाश्रित्य वसेत्पुरम्।।

(राजा) धन्ददुर्ग, महीदुर्ग, जलदुर्ग, वृक्षदुर्ग, मनुष्यदुर्ग अथवा गिरिदुर्ग का आश्रयकर नगर (राजधानी) में निवास करे।

सर्वेण तु प्रयत्नेन गिरिदुर्गे समाश्रयेत्।

एषां हि वाहुगुण्येन गिरिदुर्ग विशिष्यते।।

(राजा) सब प्रयत्न से निरिदुर्ग का आश्रय करे, इन दुर्गो (6170) में से अधिक गुणयुक्त होने से गिरिदुर्ग श्रेष्ठ होता है।

त्रीण्याद्यान्याश्रितास्त्वेषां मृगर्ताश्राडपराः।

त्रीण्युत्तराणि क्रमशः प्लवडंगमनरामराः।।[21]

इन दुर्गो (6170) में से पहले वाले तीन दुर्गो में (धन्वदुर्ग, महीदुर्ग और जलदुर्ग में) मृग, बिलों में रहनेवाले (चूहा, खरगोश आदि) तथा जलचर (नगर आदि) और अन्तवाले तीन दुर्गो में वृक्षदुर्ग, मनुष्यदुर्ग और गिरिदुर्ग में (वानर, मनुष्य तथा अमर (देव) क्रमशः निवास करें।

यथा दुर्गाश्रितानेतान्नोपहिंसन्ति शत्रयः।

तथारयो न हिंसन्ति नृपं दुर्गसमर्थितम्।।

जिस प्रकार इन (धन आदि) दुर्गों में रहनेवाले इन (मृग आदि को) शत्रु (व्यधा आदि) नहीं मार सकते हैं, उसी प्रकार दुर्ग में निवास करनेवाले राजा को शत्रु नहीं मार (जीत) सकते हैं।

एकः शतं योधयति प्रकारस्थो धनुर्धरः।

शंत दशसहस्त्राणि तस्माद्दुर्ग विधीयते।।

(जिस कारण से) किले में रहनेवाला एक धनुर्धारी (योद्धा) सौ योद्धाओं से और सौ धनुर्धारी योद्धा दस हजार योद्धाओं से लड़ता है, इस कारण राजनीतिज्ञ दुर्ग की प्रशंसा करते हैं।

मन्दरस्यापि शिखर निर्मानुष्यं न शिष्यते।

मनुष्यदुर्ग दुर्गाणां मनुः स्वायंभुवोऽब्रवीत्।।[22]

मनुष्य रहित मंदिर का शिखर भी नहीं बचता (शत्रुओं से पराजित होता है), अतएव ब्रह्मा के पुत्र मनु ने मनुष्य दुर्ग को श्रेष्ठ कहा है।

तत्स्यादायुधसम्पन्न धनधान्येन वाहनः

ब्राह्मणेः शिल्पिभिर्यन्त्रेर्यवसेनोदकेन च।।

उस (किला) को हथियार (तलवार, धनुष आदि), धन (सुवर्ण, चांदी आदि), धान्य (गेहूँख चावल,चना आदि) , वाहन (हाथी, घोड़ा, रथ, ऊँट आदि) ब्राह्मणों कारीगरो, यंत्रों, चारा (पास, भूसा, खरी, कराई आदि पशुओं के भोज्य पदार्थो) और जल से संयुक्त रखे।

तस्य मध्ये सुषर्याप्तं कारयेद् गृहमात्मनः।

गुप्तं सर्वर्तुकं शुभ्र जलवृक्षसमन्वितम्।।

राजा उस (किले) के बीच में (स्त्री–गृह, देव–मंदिर, अग्निशाला, स्नानागार आदि भवनों के अलग–अलग होने से) बड़ा, (खई परकोटा अर्थात् चहारदीवारी, सेना आदि से) सुरक्षित सब ऋतुओं में फलने–फूलने वाले वृक्ष, गुल्म और लता आदि से (सब ऋतुओं में अनुकूल) चूना, रंग आदि से उपलिप्त होने से (शंभ्र) बावली, पोखरा आदि जलाशयों तथा पेड़ों से युक्त अपना महल (राजभवन) बनवाये।

तदध्यास्योद्वहेभ्यार्दो सवार्णी लक्षणान्यिताम्।

कुले महति संभूतां हृद्यां रूपगुणान्विताम्।।

(राजा) उस महल में निवासकर स्वजातीय, शुंभ, लक्षणोवाली, श्रेष्ठ कुल में उत्पन्न, तथा रूप एवं गुण से युक्त स्त्री से विवाह करें।

पुरोहितं च कुर्वीत वृणुयादेव चित्विजः।

तेऽस्य गृह्याणि कर्माणि कुर्युवेतानिकानि च।।

(राजा आथवर्ण विधि) से पुरोहित और यज्ञ कर्म करने के लिए ऋत्विक् को वरण करे तथा वे लोग (पुरोहित तथा ऋत्विक्) इस (राजा) के शांतिकर्म तथा यज्ञ कर्म को करते रहे।

यजेत राजा क्रतुभिविविधसेराप्तदक्षिणे।

धर्मार्थे चैव विप्रेभ्यो दद्याभ्दोगान्धनानि च।।

राजा बहुत दक्षिणावाले (अश्वमेद्य, विश्रजित आदि) अनेक यज्ञों को करे और धर्म के लिए ब्राह्मणों (स्त्री, गृह, शय्या, वाहन आदि) भोग साधक पदार्थ तथा धन देवे।

सांवत्सरिकमाप्तेश्च राष्ट्रदाहारयेद्बलिम्।

स्याच्चाम्नायपरो लोको वर्तेत पितृवन्कृपु।।

(राजा) विश्वास पात्रों से वार्षिक कर वसूल करावे और लोगों से (कर लेने) में न्याययुक्त बर्ताव करे और मनुष्यों में (राजा) पिता के समान बर्ताव करे।

अध्यक्षान्विविधान्कुर्यात्तत्र तत्र विपश्चित।

तेडस्य सर्वाण्यवेक्षेरन्नगां कार्याणि कुर्वताम्।।[23]

(राजा) उन कार्यो (सेना, कोष संग्रह, दूत कार्य आदि)। में अनेक प्रकार से अध्यक्षों को नियुक्त करे तथा वे अध्यक्ष इस राजा के सब कार्यों को देखा करे।

आवृत्तानां गुरूकुलाद्विपुराणाां पूजको भवेत्।

नृपाणामक्षयो होप निधिर्व्राह्यो ऽभिवीयते।।

(राजा) वेदाध्ययन के बाद गुरुकुल से गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होनेवाले ब्राह्मणों की पूजा (धन–धान्य गृहादि को देकर आदर–सत्कार) करे, क्योंकि यह ब्राह्मण राजा का अक्षय निधि (खजाना) कहा गया है।

न तं स्तेना न चामित्रा हरन्ति न च नश्यति।

तस्माद्राज्ञा निधातव्यो ब्राह्मणेध्वक्षयो निधिः।।

उस (सत्पात्र ब्राह्मण में दिये गये दान रूप कोष) को चोर नहीं चुराते, शत्रु नहीं छीनते और वह नष्ट नहीं होता है, अतएव राजा ब्राह्मणों में अक्षय कोष रखे (ब्राह्मणों को दान दे)।

न स्कन्देते न व्यथते न विनश्यति कहिंचित्

वरिष्ठमग्निहोत्रेम्यो ब्राह्मणष्य मुखे हुतम्।।

अग्नि में हूवन किये गये हविष्य (श्रीरान्त, धृत आदि हवनीय पदार्थ) की अपेक्षा ब्राह्मण के मुख में किया गया हवन (ब्राह्मणों को दिया गया दान) न कभी नीचे गिरता है, न कभी सूखता है और न कभी नष्ट होता है।

(अतः अग्निहोत्रादि कर्म की अपेक्षा ब्राह्मण को दान देना श्रेष्ठ है)

समब्राह्मणे दान द्विगुणं ब्राह्मणत्रुवे।

प्राधाते शतलाहस्त्रमनन्तं वेदपारगे।।

ब्राह्मणमित्र (क्षत्रिय आदि) में दिया गया दान सामान्य फलवाला, ब्राह्मण क्रिया से रहित अपने को ब्राह्मण कहनेवाले ब्राह्मण में, दिया गया दान दुगुने फल वाला, विद्वान् ब्राह्मण में दिया गया

दान लाख गुने फलवाला और वेदपारगामीं ब्राह्मण में दिया गया दान अनन्त फलवाला होता है।

पात्रास्य हि विशेषण श्रहचानतयेव च।

अल्पं वा वहु वा प्रेत्य दानस्य फलमश्नुते।[24]

(एष एव परो धर्मः कृत्स्नो राज्ञ उदाहृतः)।

जित्वा धनानि संग्रामाद् द्विजेभ्यः प्रतिपादयेत्।।

देशकाल विधानेन द्रव्यं श्रद्धासमन्वितम्।

पात्रे प्रदीयते यत्तु तर्द्धर्मस्य प्रसाधनम्।।

विद्या तथा तप से युक्त पात्र की अपेक्षा से (सुपात्र को प्राप्त कर) श्रद्धा से दिये गये दान को फलको परलोक में मनुष्य प्राप्त करता है।

(राजा का सम्पूर्ण यही धर्म कहा गया है कि युद्ध से धन को जीतकर ब्राह्मणों को दान कर दे)

देशकाल के अनुसार श्रद्धा से युक्त जो द्रव्य सत्पात्र में दिया जाता है, वही धर्म का प्रसाधन (उत्तम साधन या भूषण) है।

समोत्तमाधमे राजा त्वाहूतः पालय–प्रजाः।

न निवर्तेत संग्रामात्क्षात्रं धर्ममनुस्मरन्।।[25]

प्रजाओं का पालन करता हुआ राजा समान, अधिक या कम (बलवाले शत्रुओं) के बुलाने (युद्ध के लिए ललकारने) पर (क्षत्रिय युद्ध से विमुख न होवे इस) क्षत्रिय–धर्म को स्मरण करता हुआ युद्ध से विमुख न होवे।

संग्रामेष्वनिवर्तित्वं प्रजानां चैव पालनम्।

शुश्रूषा ब्राह्मणानां च राजां श्रेयस्करं परम्।।

युद्ध से (डरकर) नहीं भागना, प्रजाओं का पालन करना और ब्राह्मणों की सेवा करना, राजाओं का अत्यन्त कल्याण करनेवाला (धर्म) माना गया है।

आहवेषु मिथोऽन्योन्यं जिधासन्तो महोक्षितः।

युद्धमानाः परं शक्त्या स्वर्गे यान्त्यपराङंमुखाः।

युद्धों में परस्पर प्रहार (चोट) करने की इच्छा करते हुए अपार शक्ति से युद्ध करते हुए राजा विमुख न होकर (मरने से) स्वर्ग को जाते हैं।

न कूटेरायुधेर्हन्याधुध्यमानों रणे निपून्।

न कर्णिभिनापि दिन्धर्नाग्रिज्वलिततेजनैः।।

युद्ध करता हुआ (राजा या कोई योद्धा कूटशास्त्र) बाहर में लकड़ी आदि तबा भीतर में घातक तीक्ष्णास्त्र या लोहा आदि से युक्त शस्त्र), कणिंगे आकारवाला फल (वाण का अगला भाग), विषादि में बुलाये गये, अग्नि से प्रज्वलित अग्रभागवाले शस्त्रों से शत्रुओं को न मारे।

न च हन्यात्थलारूढऋं न कलीवं न कृताज्जलिम्।

न मुक्तकेशं नासीनं न तवास्मीति वादिनम्।।

(रथ पर बैठा हुआ) योद्धा भूमि पर स्थित, नपुंसक, हाथ जोड़े हुए, बाल खोले हुए, बैठे हुए और में तुम्हारा ऐसा करते हुए (शरणागत) योद्धा को न मारे।

न सुप्तं न विसन्नाहं न मनं न निरायुद्धम्।

नायुध्यमानं पश्यन्तं न परेण समागतम्।।

सोये हुए, कावच से रहित, नंगा, शस्त्र से रहित, युद्ध नहीं करते हुए, (केवल युद्ध का) देखते हुए (जैसे–युद्ध संवाददाता आदि) और दूसरे के साथ युद्ध में भीड़े हुए योद्धाओं को न मारे।

नायुद्धव्यसनप्राप्तं नार्ते नातिपरिक्षतम्।

न भींत न परावृतं संता धर्ममनुस्मरण्।।[26]

अपने शस्त्र–अस्त्र के टूटने आदि से दुःखा, पुत्र आदि के शोक से आर्त, बहुत घायल, डरे हुए और युद्ध से विमुख योद्धा को सज्जन क्षत्रियों के धर्म का स्मरण करता हुआ (राजा या कोई भी योद्धा) न मारे।

यस्तु भीतः परावृत्तः संग्रामे हन्यते परेः।

भर्तुर्यद् दुष्कृतं किंचितत्सर्वे प्रतिपद्यते।।

युद्ध मेंडरकर विमुख जो योद्धा शत्रुओं से मारा जाता है, वह स्वामी का जो कुछ पाप है, उसे प्राप्त करता है।

पराक्मुखहतस्य स्यात्पापमेतद्विवक्षितम्।

न स्वत्र प्रभुपापं स्यादिति गोविन्दराजकाः।।

'मेधातिथिस्त्वर्थवादमात्रमेतन्निरूपधन्।

मन्ये नेतद् हूयं युक्त व्यक्तमन्वर्थवर्जनात्।।

यच्चास्य सुकृतं किंचिदमुत्रार्थमुपार्जितम्।

भर्ता तत्सर्वमादत्ते परावृत्तहतस्य तु।।[27]

डरकर युद्ध से पराष्मुख होने पर शत्रु से अभिहत योा का परलोक के लिए उपार्जित जो कुछ पुण्य है, वह सब स्वामी (उस योद्धा को वेतन देनेवाला राजा आदि) प्राप्त कर लेता है।

रथाश्र्व हस्तिनं छत्रं धनं धान्यं पशून्स्त्रियः।

सर्वद्रव्याणि कुप्यं च यो यज्जयति तस्य तत्।।

रथ, घोड़ा, हाथी, छत्र, धन, धान्य (सब प्रकार के अन्न), पशु (गौ, भैंस आदि) स्त्रियां (दासी आदि), सब तरक के द्रव्य (गुड़, नमक आदि) और कृप्य (सोना–चांदी के अतिरिक्त अन्य तावा–पीतल आदि द्रव्य) को जो योद्धा जीतकर लाता है, वह उसी का होता है। (सोना, चांदी, भूमि, रत्न आदि बहुमूल्य वस्तुएं राजा को होती है)।

राक्षश्व दद्युरूद्धारमित्येपा वेदिको श्रुतिः।

राज्ञा च सर्वयोद्धेम्यां दातव्यमपृथमिजतम्।।

(भृत्येभ्यो विजयेदर्थान्नेकः सर्वहरा भवेत्)।

नाममात्रेण तुष्येत छत्रेण च महापतिः।।

(युद्ध में विजय करनेवाले योद्धा) राजा के लिए उद्धार (सोना, चांदी जवाहारात तथा हाथी घोड़ा भी देवें' यह वैदिक वचन है और राजा विजयी योद्धाओं के लिए सम्मिलित रूप में जीतकर प्राप्त किये द्रव्यों में से प्रत्येक पुरूषार्थ के अनुसार विभाजन कर देवे)।

एषोडनुपस्कृतः प्रोक्तो योद्धधर्मः सनातनः।

अस्माद्धमन्नि च्यवेत क्षत्रियो ध्रन्नणे रिपून्।।[28]

(भूगु मुनि महर्षियों से कहते हैं कि) अनिन्दित योद्धाओं का यह सनातन धर्म (मैंने) आप लोगों से कहा, युद्ध में शत्रुओं को मारता हुअ राजा इसे न छोड़े।

अलब्धं चैव लिप्सेत लब्धं रक्षेत्प्रयत्नतः।

रक्षितं वर्धयेच्चैव वृद्धं पात्रेधु निक्षिपेत्।।

(राजा) अप्राप्त (नहीं मिले हुए भूमि तथा सुवर्ण आदि) को पाने की इच्छा करे, प्राप्त (भूम्यादि) को यत्नपूर्वक रक्षा करे, रक्षा किये गये को बढ़ावे और बढ़ाये हुए (द्रव्य, भूमि आदि) को सत्यार्थी में दान कर दे।

एतच्चतुविधं विद्यद्वात्पुरूषार्थप्रयोजनम्।

इस्य नित्यमनुष्ठानं सम्यक्कुयदितन्द्रितः।।

(राजा) चार प्रकार के पुरूषार्थों का यह प्रयोजन जाने तथा आलस्य रहित होकर सर्वदा इसका पालन करे।

अलब्धमिच्छेद्दण्डेन लब्ध रक्षेदवेक्षया।

रक्षितं वर्धपेद् बुद्धया वृद्ध पात्रेषु निक्षिपेत्।।

(राजा) अप्राप्त (नहीं मिले हुए सोना, चांदी, भूमि, जवाहारात आदि) को दण्ड के द्वारा (शत्रु को दण्ड देकर या जीतकर) पाने की इच्छा करे, प्राप्त (मिले हुए सोना आदि उक्त) द्रव्यों को देखभाल करते हुए रक्षा किये गये उनकी वृद्धि से (जन–स्थल मार्ग आदि से व्यापार आदि करके) बढ़ावे और बढ़ाये गये (उन द्रव्यों) को सस्मत्रों में दान कर दे।

नित्यमुद्यतदण्डः स्यान्नित्यं विवृतपौरूषः।

नित्यं संवृतसंचार्यो नित्यं छिद्रानुसार्यरेः।।[29]

(राजा) दण्ड को सर्वत्र उद्यत रखे (हाथी, घोड़ा, रथ और पैदल इस प्रकार चतुरङ्गिणी सेना को सर्वदा परेड करवा कर उनका अभ्यास बढ़ाता रहे) अपने पुरूषार्थ (सैनिकादि शक्ति) को प्रदर्शित करता रहे, गुप्त रखने योग्य (अपने विचार, राजकार्य एवं चेष्टा आदि) को सर्वदा गुप्त रखे और शत्रु के छिद्र (सेना या प्रकृति के द्वेष आदि से दुर्बलता) को सर्वदा देखता रहे।

नित्यमुद्यतदण्डस्य कृत्स्नमुद्विजते जगत्।

तस्मात्सर्वाणि भूतानि दण्डेनैव प्रसाधयेत्।।

सर्वदा दण्ड (चतुरंगिणी सेना की शक्ति) से युक्त रहनेवाले (राजा) से सब संसार डरता रहता है, अतएव राजा सब लोगों को दण्ड द्वारा ही वश में करे।

अमाययैव वर्तेत न कर्थधन माययाा।

बुद्धयेतारिप्रयुक्ता च मायां नित्यं स्वसंवृतः।।

(राजा) सर्वदा (मंत्री आदि के साथ) निष्कपट बर्ताव करे, कपट से किसी प्रकार बर्ताव न कर (कपट बर्ताव करने से राजा सबका भाग्य अविश्वासपात्र हो जाता है) और स्वयं सब व्यवहार को गुप्त रखता हुआ शत्रु के कपट को (गुप्तचरों के द्वारा) मालूम करे।

नास्य छिद्रं परो विद्याद्विद्याच्छिद्रं परस्य तु।

गूहेत्कूर्म हवांगनि रक्षेद्विवरमात्मनः।।[30]

न विश्वसेदविश्वस्ते विम्वस्ते नातिविश्वसेत्।

विश्वासाभ्द्यमुत्पन्न मूलादपि निकृन्तति।।

(राजा ऐसा यत्न करे कि ––) इस (राजा) के छिद्र (अकात्य आदि के साथ फूट) को शत्रु न मालूम करे और राजा स्वयं शत्रु के छिद्र को मालूम करता रहे। कछुआ जैसे अपने अंगों (मुख एवं पैरों) को दिप्त लेता है, वैसे ही (राजा भी) अंगों (स्वामी, अमात्य, राष्ट्र किला, कोष, सेना और मित्र –इन सात अंगों) को गुप्त रखे और कदाचित आपस में कोई छिद्र (मंत्री आदि प्रकृति फूट जाने से कोई दोष) हो जाय तो उसे दूर कर दे।

(राजा) अविश्वासी पर विश्वास न करे, विश्वासों पर भी अधिक विश्वास न करे, क्योंकि विश्वास में उत्पन्न भय जड़ से ही नाश कर देता है।

बकवच्चिन्तयेदथासिन्सहवच्च पराक्रमेत्।

वृकवच्चावलुम्पेत शशवच्च विनिष्पतेत्।।

(राजा) बगुले के समान अर्थचिन्तन करे, सिंह के समान पराक्रम करे, भेड़ियों के समान शत्रु का नाश करे और खरगोश के समान (शत्रु के घेरे से) निकल जाय।

एवं विजयमानस्य योऽस्य स्युः परिपन्थिनः।

तानानयेद्वशं सर्वान्सामादिभिरूपक्रमेः।।

इस प्रकार विजय करते हुए इस राजा के विजय में जो बाधक (राजा) हो, उन सबों की साम आदि उपायों से वश में लावे।

यदि ते तु न तिष्ठेगुरूपायेः प्रथमेस्त्रिभिः।

दण्देनेव प्रसहोतांश्छकेर्वशमानयेत्।।

यदि वे (विजय में बाधक राजा) पहले तीन उपायो (साम, दाम और भेद) से अपनी हरकतों को नहीं छोड़े, तब दण्ड से ही उनको बलपूर्वक वश में करे।

सामादीनामुपायानां चतुर्गामपि पण्डितः।

सामदण्डो प्रशंसन्ति नित्यं राष्ट्रभिवृद्धये।।[31]

पण्डित (राजनितिश विद्वान्) साम आदि चारो उपायों (साम,दाम, भेद और दण्ड) में से सर्वदा राज्य की वृद्धि के लिए दण्ड की प्रशंसा करते हैं।

यथोद्वरिति निर्दाता कक्षं धान्यं च रक्षति।

तथा रक्षेन्मृपो राष्ट्र हन्याच्च परिपन्थिनः।।

जिस प्रकार निकौनी (सौइनी) करनेवाला (किसान खेत में से) घास को उखाड़ता है और धान्य को बताता है, उसी प्रकार राजा राज्य की रक्षा करे और शत्रुओं का नाश करे।

मोहाद्राजा स्वराष्ट्र यंः कर्पयत्यनवेक्षया।

सोडचिराद् भ्रश्यते राज्याज्जीविताव सावान्धवः।।

जो राजा मोहवश अपने राज्य की देखरेख न करके धन ग्रहण करता है (प्रजा की रक्षा न करके भी अन्यायपूर्वक उनसे अनेक प्रकार का कर लेता है), वह शीघ्रं ही राज्य से भ्रष्ट हो जाता है और बान्धव–सहित जीवन से भ्रष्ट हो जाता है। (सपरिवार मर जाता है)।

शरीरकर्षणात्प्राणाः क्षीयन्ते प्राणितां यथा।

तथा राज्ञामपि प्राणाः क्षीयन्ते राष्ट्रकथणात्।।[32]

जिस प्रकार शरीरधारियों के प्राण (भोजनादि के अभाव से) शरीर के क्षण होने से नष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार राज्य के पीड़ित करने से राजाओं के भी प्रश्रण (प्रकृति–कोष आदि से) नष्ट हो जाते हैं (अतः राजा का कर्त्तव्य है कि यथावत् राज्य की रक्षा करता रहे)।

राष्ट्रस्य संग्रहे नित्यं विधानमिदमाचरेत्।

सुसंगृहीतराष्ट्रों हि पार्थिवः सुखमेधते।।

राज्य की रक्षा के लिए राजा नित्य इन उपायों को करे, क्योंकि अच्छी तरह राज्य–रक्षा करनेवाला राजा सुखपूर्वक बढ़ता (उन्नति करता) है।

द्वयोस्त्रयाणां पज्वानां मध्ये गुल्ममधिष्ठितम्।

तथा ग्रामशतानां च कुर्याद्राष्टस्य संग्रहम्।।

(राजा) राज्य की रक्षा के लिए दो 2, तीन 2 या पांच 2 गाँवों के समूह का एक 2 रक्षक नियुक्त करे और सौ गांवों का एक प्रधान रक्षक नियुक्त करे।

ग्रामस्याधिपतिं कुर्याद्दशग्रामपतिं तथा।

विंशतीशं शतेश च सदस्त्रपति मेव च।।

(राज्य) एफ, दस 2, बीस 2, सो 2 तथा हजार 2 गांवों का एक 2 रक्षक नियुक्त करे।

ग्रामदोषानसमुत्पन्नान्ग्रामिकः शनकेः स्वयंम्।

शंसेद्ग्रामदशोशाय देशो विंशतोशिने।।

विंशतोशस्तु तत्सर्वे शतेशाय निवेदयेत्।

शंसेद् ग्रामशतेशस्तु सहस्त्रपतये स्वयंम्।।

चोर आदि के उपद्रव को शांत करने में असमर्थ एक गांव का रक्षक दल गांवों के रक्षक को, दस गांव का रक्षक, बीस गांवों के रक्षक को, बीस, गांवों का रक्षक सौ गांवों के रक्षक को और सौ गांवों का रक्षक बाजार गांवों के रक्षक को स्वयं (बिना पूछे ही) उक्त चोर आदि के उपद्रवों को शीघ्र सूचित करे।

यानि राजप्रदेयानि प्रत्यंह ग्रामवासिभिः।

अन्नपानेन्धनादीनि ग्रामिकस्तान्वाप्नुयात्।।

ग्रामवासी प्रजा राजा के लिए जो अन्न, ईंधन आदि देते हो, उसे वह एक गांव का रक्षक लेवे।

दशो कुलं तु भुंज्जीत विंशो पाज्व कुलानि च।

ग्राम प्रामशताध्यक्षः सहस्त्राधिपतिः पुरम्।।[33]

दस गांवों का रक्षक एक 'कुल', बीस गांवों का रक्षक पांच कुल, सौ गांवों का रक्षक एक मध्यम ग्राम और हजार गांवों का रक्षक एक मध्यम पुर (कस्वा, अपनी जीविका के लिए) राजा से प्राप्त करे।

अष्टागवं धर्मदल षड्गवं जीवितार्थिनाम्।

चतुर्गवं गृहस्थानां त्रिगर्व ब्रह्मधातिनाम्।।

तेपां ग्राम्याणि कार्याणि पृथक्कार्याणि चैव हि।

राज्ञोऽन्य सचिवः स्निधस्तानि पश्येदतन्द्रितः।।

उन ग्राम–निवासियों ग्राम संबंधी तथा अन्य (किये गये तथा नहीं किये गये) कार्यो को राजा का हितैषी दूसरा मंत्री आलसरहित होकर देखा करे।

नगरे नगरे चैवं कुर्यात्सर्वार्थचिन्तकम्।

उच्चः स्थानं घोर रूपं नक्षत्राणामिव ग्रहम्।।

राजा प्रत्येक नगर में (हाथी, घोड़ा रथ एवं पैदल सैनिकों के द्वारा दूसरों में) आतंक उत्पन्न करनेवाले, नक्षत्रों में शुक्र आदि ग्रहों के समान तेजस्वी और सब विषयों की चिन्ता (देखभाल) करनेवाले एक उच्च पदाधिकारी को नियुक्त करे।

स तानानुपरिक्रामेत्सर्वानेव सदा स्वयम्।

तेषा वृतं परिणयेत्सम्यग्राष्ट्रषु तच्चरेः।।[34]

नगर में नियुक्त वह उच्च पदाधिकारी उन (ग्रामाधिपति आदि 71–115–116) का सर्वदा स्वयं निरीक्षण करता रहे और दूतों के द्वारा राज्यों में उन ग्रामाधिपतियों के कार्य बर्ताव आदि व्यवहार को मालूम करता रहे।

राज्ञो द्वि रक्षाधिकृताः परस्वादायिनः शंठाः।

भृत्या भवन्ति प्रयोण तेभ्यो रक्षेदिमाः प्रजा।।

राजा के रक्षाधिकारी प्रायः दूसरों का धन लेनेवाले (घूसखोर) हुआ करते हैं, उन शठों से (राजा) इन प्रजाओं की रक्षा किया करे।

ये कार्थिकेभ्योऽर्थमेव गृहींयुः पापचेतसः।

तेषां सर्वस्वमादाय राजा कुर्यात्म्प्रवासनम्।।

जो पाप बुद्धि भविकारी काम पड़नेवालों से (अनुचित रूप में) धन अर्थात् घुस ले, राजा उनका सर्वस्व लेकर उन्हें राज्य से बाहर निकाल दे।

राजा कर्मसु युक्तानां स्त्रीणां प्रेष्यजनस्य च।

प्रत्यहंक ल्पयेद्वृतिं स्थान कर्मानुस्मतः।।

राजा काम में नियुक्त दास–दासियों के लिए कार्य के अनुसार प्रति जिनका वेतन एवं स्थान निश्चित कर दे।

पणो देयोऽवकृष्ट्स्य षडुत्कृष्टस्य वेतनम्।

पाण्मासिकस्तथाच्छादो धान्यद्रोणास्तु मासिकः।।[35]

(राजा) साधारण कार्य (झाड़ू लगाना पानी भरना आदि) करने वाले निकृष्ट दास या दासी के प्रतिदिन एक पण (एक पैसा दे. 81–136) 6 मास में एक जोड़ा वस्त्र, प्रतिमास एक द्रोण (4 आदक–2सेर) धान्य और उत्तम दास या दासी के लिए प्रतिदिन 6 पण (पैसा) वेतन दे।

क्रयविक्रयमध्वानं भक्त च सपरिव्यम्।

योगक्षेमं च संप्रेक्ष्य वणिजो दापयेत्करान्।।

(राजा) खरीद–बिक्री, मार्ग, भोजन, मार्गादि में चोर आदि से रक्षा का व्यय, और लाम को देख (सम्यक् प्रकार से विचार) कर व्यापारी से कर लेवे।

यथा फलेन युज्येत राजा कर्ता च कर्मणाम्।

तथावेक्ष्य नृपो राष्ट्र कल्पयेत्सततं करान्।।

जिस प्रकार राजा देखभाल आदि और व्यापारी व्यापार आदि के फलते युक्त रहें (दोनों को अपने–अपने उद्योग के अनुसार उचित फल मिले), वैसा देख (अच्छी तरह विचार) कर सर्वदा निश्चय कर राज्य में कर लगावे।

यथाल्पाज्पदन्त्यांद्य चार्योकोवत्सपट्पदाः।

तथाल्पाल्पो ग्रहीतव्यो राष्ट्रद्राज्ञाब्दिकः करः।।

जिस प्रकार जोंक, बछड़ा और भ्रमर थोड़े–थोड़े अपने–अपने खाद्य (क्रमशः रक्त, दूध और मधु) को ग्रहण करता है, उसी प्रकार राजा को प्रजा से थोड़ा–थोड़ा वार्षिक कर ग्रहण करना चाहिये।

पज्वाशभदाग आदेशो राजा प्शुहिरण्ययोः।

धान्यानामष्टमो भागः षष्ठो द्वादश एवं वा।।[36]

राजा को पशु तथा सुवर्ण का कर (मूल धन से अधिक) का पचासवां भाग और धान्य का छठा, आठवां या बारहवां भाग (भूमि की श्रेष्ठता अर्थात् उपजाऊपन एवं परिश्रम आदि का विचार कर) ग्रहण करना चाहिए।

आददीताथ षड्भांग द्मांसमधुसपिषाम्।

गन्धोषधिरसानां च पुष्पमूलफलस्य च।।

पत्रशाकतृगानां च यर्मणां वैदलस्य च।

मृन्मयानां च भाण्डानां सर्वस्याश्ममयस्स च।।

वृक्ष, मांस, शहद, घी, गन्ध, आषधि, रस (नमक आदि), फूल, मूल, फल, पत्ता, शाक, घास, चमडा, बांस तथा मिट्टी के बर्तन और पत्थर की बनी सब वस्तुओं का छठा भाग कर रूप में ग्रहण करे।

मित्रामाणोऽप्ययाददीत न राजा क्षोत्रियात्करम्।

न च क्षुधाऽस्य संसीदेच्छोत्रियों विषये वसन्।।

मरता हुआ (अतिनिधन) भी राजा क्षेत्रिय (वेदपाठी ब्राह्मण) से कर न ले, इस (राजा) के देश में रहता हुआ श्रोत्रिय (जीविका न मिलने से) भूख से पीड़ित न हो सेसा प्रबन्ध रखे।

यस्य राज्ञस्तु विषये श्रोत्रियः सीदति क्षुधा।

तस्यापि तत्क्षुधा राष्ट्रमचिरेणैव सीदति।।[37]

जिस राजा के देश में श्रोत्रिय भूख से पीड़ित होता है, उस राजा का वह राज्य भी शीघ्र ही भूख से पीड़ित होता है (राज्य में अकाल पड़ता है)।

श्रुतवृत्ते विदित्वाऽस्य वृत्ति धर्म्यो प्रकल्पयेत्।

संरक्षेत्सर्वतश्रेचनं पिता पुत्रमिचोरसम्।।

राजा इस (श्रोत्रिय) के शास्त्र (शास्त्र–ज्ञान) और आचरण का विचार कर धर्मयुक्त वृत्ति (जीविका) कल्पित करे और पिता जिस प्रकार अपने औरस पुत्र की रक्षा करता है, उस प्रकार इस (श्रोत्रिय) की रक्षा करे।

संरक्ष्यमाणो राज्ञा यं कुरूते धर्ममन्वहम्।

तेनायुर्वधते राशो द्रविणं राष्ट्रमेव च।।

राजा द्वारा सुरक्षित होता हुआ श्रोत्रिय प्रतिदिन जिस धर्म को करता है, उससे राजा की आय, धन और राज्य की वृद्धि होती है।

यत्किचिदपि वर्षस्य दापयेत्करसञ्ज्ञितम्।

व्यवहारेण जीवन्तं राजा राष्ट्रे पृथग्जनम्।।

राजा अपने देश में व्यवहार (शाक आदि सामान्यतम वस्तुओं की खरीद–बिक्री) से जीनेवाले साधारण श्रेणी के लोगों से कुछ (बहुत थोड़ा) वार्षिक कर ग्रहण करे।

कारूकाज्छिल्पिनश्रेव शूद्रांश्रवात्मोपजीवितः।

एकेकं कारयेत्कर्म मासि मासि महीपतिः।।

कारीगर, बढ़ई–लोहार आदि, बोझ आदि ढ़ोनेवाले (मजदूर आदि) से राजा प्रति महीने में एक दिन काम करवाने (इनसे दूसरा कोई कर न लेवें)।

नोच्छिन्द्यादात्मनो मूलं परेषां चातितृष्णया।

उच्छिन्दन्ह्यात्मनो मूलामात्मानं तांश्च पीडयेत्।।

राजा (स्नेहादि से) अपनी जड़की और अधिक लोभ से प्रजा की जड़की नष्ट न करे, क्योंकि अपनी जड़की नष्ट करता हुआ अपने को और प्रजाओं की जड़ को नष्ट करता हुआ (राजा) प्रजाओं को पीड़ित करता है।

तीक्ष्णश्रेव मृदुश्च स्यात्कार्य वीक्ष्य महोपतिः।

तीक्ष्णश्रैव मृदुश्रैव राजा भवति संमतः।

राजा कार्य को देखकर कठोर या मृदु (सरल, दयालु) होवे, (क्योंकि समयानुसार) कठोर और मृदु राजा सबका प्रिय होता है।

अमात्यमुख्यं धर्मज्ञं प्राज्ञं दान्तं कुलोद्रतम्।

स्थापयेदासने तस्मिन्खिन्नः कार्यक्षणे नृगाम्।।

राजा कार्य की अधिकता आदि से उसे देखने में असमर्थ या थका हुआ राजा धर्मज्ञाता, विद्वान, जितेन्द्रिय और कुलीन प्रधान मंत्रों को प्रजाओं के कार्य को देखने में नियुक्त करे।

एवं सर्वे विधायेदमितिकर्तव्यमात्मनः।

युक्तश्रेवाप्रमत्तश्रव परिरक्षेदिमाः प्रजाः।।

इस प्रकार अपना सम्पूर्ण कर्त्तव्य करके उद्योगयुक्त और सावधान रहता हुआ (राजा) इन प्रजाओं की रक्षा करे।

विक्रोशन्त्यो यस्य राष्ट्रद्ध्रियन्ते दस्युभिः प्रजाः।

संपश्यतः सभ्रत्यस्य मृतः स न तु जीवति।।

मंत्री सहित जिस राजा के देखते अर्थात् राज्य करते रहने पर राज्य में चरों (डाकू–आदि) से प्रजा अपहृत होती है, वह राजा मरा हुआ है, जीता नहीं है। क्योंकि प्रजा रक्षणरूप जीवित राजा का कार्य वह नहीं करता, अतः मरा हुआ है।

क्षत्रियस्य परो धर्मः प्राजनामेव पालनम्।

निर्दिष्टफलभोक्ता हि राजा धर्मेण युज्यते।।[38]

प्रजाओं का पालन ही क्षत्रियों का श्रेष्ठ धर्म है, क्योंकि (प्रजापालन द्वारा) शास्त्रोक्त फल को भोगनेवाला राजा धर्म से युक्त होता है।

उत्याय पश्चिमे यामे कृताशोचः समाहितः।

हुताग्निर्वाह्यणाश्रशर्च्य प्रविशेत्स शुभां सभाम्।।

(राजा) रात्रि के अन्तिम पहर में उठकर शौच (शौच, दन्तधावन एवं स्नानादि नित्यकर्म) करके अग्नि में हवन और ब्राह्मणों की पूजा कर शुभ (वास्तुलक्षण से युक्त) सभा (मंत्रणा–गृह) में प्रवेश करे।

तंत्र स्थितः प्रजाः सर्वाः प्रतिनंद्य विसर्जयेत्।

विसृज्य च प्रजाः सर्वा मंत्रयेत्सह मंत्रिभिः।।

वहां पर (सभा भवन में दर्शनार्थ) स्थित प्रजाओं को (यथा योग्य किसी की भीषण से, किसी को प्रियदर्शन से) संतुष्ट कर विसर्जित करे। सब प्रजाओं को विसर्जित (भेज) कर मंत्रियों के साथ मंत्रणा (गुप्त–परामर्श) करे।

गिरिपृष्ठं समारूह्य प्रसादं वा रहोगतः।

अरण्ये निःशलाके वा मंत्रयेदविभावितः।।

(राजा) पहाड़ पर चढ़कर, या एकान्त प्रसाद महल में या निर्जनवन में दूसरे से अज्ञात होते हुए (मंत्री के साथ) मंत्रणा (पंचांग मंत्र का विचार) करे।

यस्य मंत्र न जानन्ति समागम्य पृथग्जनाः।

स कृत्स्नां पृथिवीं भुंङक्ते कौशहीनोऽपि पार्थिवः।।

जिस (राजा) के मंत्र को दूसरे लोग आकर नहीं जानते हैं, कोश से हीन भी वह राजा सम्पूर्ण पृथ्वी का भोग करता है।

जङमकान्धवधिरांस्तैर्ययोनान्वयोतिगान्।

स्त्रीम्लेच्छव्याधितव्य«मन्त्रकालेऽपसारयेत्।।

मंत्र के समय में (राजा) जड़, मूक (गूंगे), बहरे, तिर्यग् योनि में उत्पन्न (सुग्गा–तोता–मैना आदि), अत्यन्त वृद्ध स्त्री, म्लेच्छ, रोगी, व्यंग्य (कम या अधिक अंगवालों) को हटा दे।

भिन्दन्त्यवमता मंत्रं तैयग्योनास्तथैव च।

स्त्रियाश्चैव विशेषण तस्मात्तत्रादतो भवेत्।।

क्योंकि अपमानित जड़, मूक और बहरे तथा तिर्ययोनि में उत्पन्न तोता मैना आदि और विशेषकर स्त्रियाँ (अस्थिर बुद्धि होने के कारण) मंत्र का भेदन (अन्यत्र प्रकाशन) कर देती है, इस कारण उसमें (उन्हें हटाने में) यत्नमुक्त होवे।

मध्यंदिनेऽर्धरात्रे वा विश्रान्तो विगतक्लमः।

चिन्तयेद्धर्मकामार्थान्सार्धे तेरेक एव वा।।

मध्याह्न में या आधी रात को मानसिक खेद तथा शारीरिक खिन्नता से हीन होकर (राजा) उन (मंत्रियों) के साथ में या अकेला ही धर्म, अर्थ, अर्थ और काम की चिन्तर करे।

परस्परविरूद्धानां तेषां च समुपार्जनम्।

कम्यानां सम्प्रदानं च कुमाराणां च रक्षणम्।।

प्रायशः परस्परविरूद्ध धर्म, अर्थ और काम में से विरोध को बचाता हुआ राजा उनकी प्राप्ति के उपाय का (अपने धर्म की वृद्धि के लिए) कन्या के दान का और अपने पुत्रों को राजनीति, विनयी बनाना आदि की शिक्षा का (चिन्तन करे)।

दूतसंप्रेषणं चैव कार्यशेषं तथैव च।

अन्तःपुर प्रचारं च प्राणिधीनां च चेष्टितम्।।

दूत भेजने का बचे हुए कार्य का, अन्तःपुर (रनिवास) के प्रचार का और गुप्तचरों का चेष्टा का (चिंतन करे)।

कृत्स्नं चाष्टविधं कर्म पज्ववर्गे च तत्वतः।

अनुरागापरागो च प्रचारं मण्डलस्य च।।

बने वनेचराः कार्या श्रमणाटविकादयः।

परप्रवृतिज्ञानार्थे शीघ्रवारपरम्पराः।।

परस्य चेते बौद्धव्यास्तादशेरेव तादशाः।

चारसंचारिणः संस्थाः शठाश्रचागूढ़ सविज्ञाताः।।[39]

(राजा) आठ, प्रकार के सब कर्म, पच्चवर्ग अनुराग और राजमण्डल के प्रचार का वास्तविक रूप से ..... (चिंतन करे)।

(राजा) वन मे ंवनेश्वर, भिक्षुक या फटे पुराने कपड़े पहनने वाले एवं शीघ्र कार्य करनेवाले जंगली मनुष्यों को शत्रु के कार्य को मालूम करने के लिए नियुक्त करे।

वैसे ही गुप्तचरों के द्वारा शत्रुओं के वैसे गुप्तचरों से व्याप्त स्थानों तथा नाम छिपाकर कार्य करनेवाले धूर्त गुप्तचरों को मालूम करे।

मध्यमस्य प्रचार च विजिगोपोश्च चेष्टितम्।

उदासीन प्रचारं च शत्रोश्चैव प्रयत्नतः।।

राजा मध्यम, उदासीन और शत्रु के प्रचार तथा विजिगोपुकी चेष्टा का चिंतन (परिज्ञान एवं प्रतिकार) करे।

एताः प्रकृतयो मूलं मण्डलस्य समासतः।

अष्टां चान्याः समाख्याता द्वादशैव तु ताः स्मृतः।।[40]

राजमण्डल की ये चार (मध्यम, विजिगीप, उदासीन और शत्रु) मूल प्रकृतियाँ है। इस प्रकार कुल मिलाकर राजमण्डल को बारह प्रकृतियाँ हुई।

अमात्यराष्ट्रदुर्गार्थदण्डाख्याः पज्व चापराः।

प्रत्येक कथिता होताः संक्षेपेण द्विसप्तिः।।

राजमण्डल की पूर्वोक्त (71156) 12 प्रकृतियों में से प्रत्येक को 1. अमात्य प्रधानमंत्री, 2. राष्ट्र, 3. दुर्ग (किला), 4. अर्थ (धन–कोष) और 5. दण्ड ये 5 द्रव्य प्रकृतियां है। अतः 12×5=60 द्रव्य प्रकृतियाँ होती है तथा पूर्वोक्त (61156) 12 प्रकृतियों को सम्मिलित कर (60+12=72) राजमण्डल का कुल 72 प्रकृतियां मुनियों ने कही है।

अनन्तरमरि विद्याद्रिसेविनमेव च।

अरेरनन्तरं मित्रमुदासीनं तयोः परम्।।

विप्रकृऐडध्वनो यत्र उदासीनोवलान्वितः।

स खिलो मण्डलार्थस्तु यस्मिज्ज्ञेयः स मध्यमः।।

विजिगीषु (अपने राज्य के पार्श्ववर्ती) तथा शत्रु की सेवा करनेवाला राजा 'अरि' अरि के बाद मे रहनेवाला 'मित्र और उन दोनों से भिन्न राजा 'उदासीन' होता है।

जिस दूर मार्ग में सेनासहित उदासीन राजा हो, वह खिल मण्डलार्थ जिसमें हो उसे मध्यम जानना चाहिये।

तान्सर्वानभिसंदध्यात्सामादिभिरूपक्रमेः।

व्यस्तेश्रैव समस्तेश्रव पापैरूषेण नयेन च।।[41]

राजा अलग–अलग या मिले हुए सामादि (साम,दाम,भेद और दण्ड) उपायों से, पुरूषार्थ से और नीति से उन सबको अपने वश में करे।

संधि च विग्रह चैव यानमासनमेवच।

द्वेधीभावं संश्रयं च षड्गुणाश्चिन्त्येत्सदा।।

संधि, विग्रह, यान, आसन, देधीभाव और संश्रय–इन छः गुणों का सर्वदा विचार करे।

आसनं चैव यान च संधि विग्रहमेव च।

कार्य वीक्ष्य प्रयुज्जीत द्वैधं संश्रयमेव च।।

राजा अपनी हानि एवं लाभ को विचाकर आसन, यान, संधि, विग्रह तथा द्वैध एवं संश्रय करे।

संधि तु द्विविधं विद्वाद्राजा विग्रहमेव च।

उभे यानासने चैव द्विविधः संश्रयः स्मृतः।।

राजा संधि, विग्रह, यान, आसन, संश्रय (तथा द्वैध) इनमें प्रत्येक को दो प्रकार का जाने। (उनके प्रकार आगे कह रहे हैं)।

समानयानकर्मा च विपरीतस्तथैव च।

तदा त्वायति संयुक्तः संधिर्श्रेयो द्विलक्षणः।

संधि के दो भेद है– (1) समानकर्मा संधि और असमानकर्मा संधि तात्कालिक या भविष्य के लाभ की इच्छा से किसी दूसरे राजा से मिलकर यान (शत्रु पर चढ़ाई) करना 'समानधर्मा' नामक संधि है, तथा (2) तात्कालिक या भविष्य में लाभ की इच्छा से किसी राजा से 'आप इधर जाइये, में इधर जाता हूँ' ऐसा कहकर पृथक–पृथक यान (शत्रु पर चढ़ाई) करना 'असमानधर्मा' नामक संधि है।

स्वयंकृतश्रव कार्यार्थभकाले काल एवं चा।

मित्रस्य चैवापकृते द्विविधो विग्रहः समृतः।।

विग्रह के दो भेद है– (1) शत्रुपर विजय पाने के लिए शत्रुव्यसन (मंत्री या सेनापति आदि से विरोध) मालूम कर समय (7/180) में कथित अगहन मास आदि (के अलावे असमय में भी अथवा समय) अगहन मास आदि में स्वयं किया गया विग्रह प्रथम भेद है तथा (2) दूसरे किसी राजा के द्वारा अपने मित्र पर आक्रमण या उसकी किसी प्रकार हानि पहुँचाने पर मित्र की रक्षा के लिए किया गया विग्रह द्वितीय भेद है।

एकाकिनश्चातयियक के कार्य प्राप्त यदच्छया।

संहितस्य व मित्रेण द्विविधं याननुच्यते।।

यान के दो भेद होते है– शत्रु के आपत्ति में फँस जाने पर अकस्मात् (एकाएक) समर्थ राजा का आक्रमण करना प्रथम 'यान' है तथा स्वयं समर्थ न होने पर मित्र के साथ आक्रमण करना द्वितीय 'यान' है।

क्षीणस्य चैव क्रमशो देवात्पूर्वकृतेन वा।

मित्रस्य चानुरोधेन द्विविधं स्मृतमासनम्।।[42]

आसन के दो भेद है– भाग्यवश या पूर्वजन्म के कार्यवश सेना, कोष आदि के क्षीण हो जाने पर या समृद्ध रहने पर भी राजा का घेरे पड़े रहना प्रथम 'आसन' है तथा मित्र के अनुरोध से उसकी रक्षा के लिए शत्रु का घेरे पड़े रहना द्वितीय 'आसन' है।

बलस्य स्वामिनश्रैव स्थितिः कार्याथसिद्धये।

द्विविधं कीत्तर्यते द्वधं षड्गुण्यगुणर्वोदभिः।।

षाडगुण्य (7/160 में कथित संधि आदि के उपयोग अर्थात लाभ) को जाननेवाले द्वैध को दो भेद कहते है– अपने कार्य की सिद्धि के लिए हाथी, घोड़ा आदि चतुर लिंगी सेना का एक भाग शत्रु से बचने के लिए सेनापति के अधीन करना प्रथम 'द्वौष' तथा उक्त सेना का शेष भाग किला आदि में राजा के अधीन रखना द्वितीय 'दूध' है।

अर्थसंपादनार्थे च पीडयमानस्य शत्रुभिः।

साधुषु व्यपदेशार्थे द्विविधः संश्रयः स्मृतः।।

संश्रय दो प्रकार का है– शत्रु से पीड़ित होते हुए आत्मरक्षार्थ किसी बलवान राजा का आश्रय लेना प्रथम 'संश्रय' तथा भविष्य में शत्रु से पीड़ित होने की आशंका से आत्मरक्षार्थ किसी बलवान राजा का आश्रय लेना द्वितीय 'संश्रय' है।

यछावगच्छेदायत्यामाधिक्यं धूवमात्मनः।

तदात्वे चाल्पिकां पीडां तदा संधि समाश्रयेत्।

जब राजा भविष्य में अपनी (सेना आदि की) निश्चित रूप से अधिकता तथा वर्तमान सामान्य हानि देखे तो शत्रु से संधि (मेल, सुलह) कर ले।

यदा प्रह्टा मन्येत सर्वास्तु प्रकृतीर्भृशम्।

अत्युच्छितं तथाऽऽत्मानं तदा कुर्वीत विग्रहम्।।

जब राजा सब प्रकृतियों (7/156–159) को (दान मान आदि से) अत्यन्त संतुष्ट तथा अपनी सेना को बलशालिनी समझे तो शत्रु को लक्ष्य कर अभियान (युद्ध के लिए यात्रा) कर दे।

यदा मन्येत भावेन हृष्टं पुष्टं स्वकम्।

परस्य विपरीत च तदा यायाद्रिपुं प्रति।।

जब राजा अपनी सेना आदि को हृष्ट–पुष्ट (बलवती) तथा शत्रु की सेना आदि को इसके विपरीत (दुर्बल) समझे, तब उस पर चढ़ाई कर दे।

यदा तु स्यात्परिक्षीणो वाहनेन बलेन च।

तदासीत प्रयत्नेन शनकेः सांत्वयन्नरीन्।।[43]

जब राजा हाथी आदि वाहनों (सवारियों) से तथा अमात्य आदि शक्तियों से अपने को अत्यन्त क्षीण (दुर्बल) समझे तब यत्नपूर्वक शत्रु को शान्त करता हुआ चुप होकर बैठ जाये।

मन्येतारि यदा जारा सर्वथा बलवत्तरम्।

तदा द्विधा बलं कृत्वा साधयेत्कार्यमात्मनः।।

जब राजा शत्रु को सब प्रकार (अपने से) बलवान समझे तब अपनी सेना को दो भागों में विभक्त कर (एक भाग को शत्रु को रोकने के लिए सेनापति के अधीन कर) तथा दूसरे भाग को आत्मरक्षार्थ अपने अधीन (किला आदि सुरक्षित स्थानों में रखकर) अपना कार्य (मित्र आदि सहायक साधनों का संग्रह) करे।

यदा परबलानां तु गमनीयतयो भवेत

तदा तु संश्रयेत्क्षिप्रं धार्मिक बलिनं नृपम्।।

जब राजा (अमात्यादि के दोष से पूर्व श्लोकानुसार सेना को दो भागों में विभक्त कर आत्मरक्षा का उपाय करने पर भी) शत्रु द्वारा अपने को पराजित होने योग्य समझे, तब शीधं ही बलवान् (अग्रिम श्लोकोक्त गुणयुक्त) राजा का आश्रय करे।

निग्रहं प्रकृतीनां च कुर्याद्योडरिवलस्य च।

उपसेवेत सं नित्यं सर्वयत्नैगुरू यथा।।

जो राजा (बिगड़ी हुई अमात्य आदि 7/156–157) प्रकृतियों तथा शत्रु की सेना का निग्रह करे (दण्डित करे), उस राजा की सेवा (दुर्बल राजा) करे।

यदि तत्रापि संपश्येछोषं संश्रयकारितम्।

सुयुद्धमेव तत्रापि निर्विशड्क समाचरेत्।।

जब राजा उक्त प्रकार से (7/174–175) संश्रय करने पर भी दोष (अपनी कार्यसिद्धि का अभाव) देखेंः तब निर्भय होकर उस (दुर्बल) अवस्था में भी पूरी शक्ति के साथ युद्ध करे।

सर्वोपायेस्तथा कुर्यान्नीतिज्ञः पृथिवीपतिः।

यथाऽस्याभ्यधिका न स्युर्मित्रोदासीनरात्रवः।।

राजा सब उपाायों साम, दाम, दण्ड और भेद ये ऐसा करे कि जिससे इसके शत्रु मित्र तथा उदासीन अधिक न होवें।

आयतिं सर्वकार्याणां तदात्वं च विचारयेत्।

अतीतानां च सर्वेषां गुणदोषो च तत्वतः।।

राजा उत्तरकाल (आगेवाले समय) वर्तमान काल और अतीत काल के गुणदोषों का चिंतन करेगा।

आयत्यां गुणदोषज्ञस्तदात्ये क्षिमुनिश्चयः।

अतीते कार्यशेषज्ञः शत्रुभिर्ताभिभूयते।।

भविष्य काल के कार्यो के गुण–दोषों का जाननेवाला, वर्तमान काल के कार्यो के विषय में शीघ्र निश्चय करनेवाला और बीते हुए कार्यशेष को जाननेवाला राजा शत्रुओं से पराजित नहीं होता है।

यथैनं नाभिसंदध्युमित्रोदसीनशत्रवः।

तथा सर्वे संविद्ध्यादेष सामासिको नयः।।

शत्रु मित्र या उदासीन राजा जिस कार्य के करने से उस राजा को पीड़ित (पराजित) न करे, संक्षेप में यही राजनीति है।

यदा तु यानमातिष्ठेदिराष्ट्र प्रति प्रभुः।

तदाऽनेन विधानेन यायादृरिपुरं शनैः।।[44]

जब राजा शत्रु पर अभियान (चढ़ाई) करे, तब इस (आगे बढ़े हुए) विधि से धीरे–धीरे शत्रु के नगर की ओर बढ़े।

मार्गशीर्ष शुभे मासि यायाद्यात्रां महीपतिः।

फाल्गुनं वाऽथ चैत्रं वा मासो प्रति यथावलम्।।

राजा शुभ मार्ग शीर्ष (अगहन) मास में या फाल्गुन अथवा चैत्र मास में अपनी सेना के अनुसार शत्रु के नगर की ओर बढ़े।

यन्येष्वपि तु कालेषु यदा पायेद् धुवं जयम्।

तदा यायाद्विगृहोव व्यसने चोत्थिते रिपोः।।[45]

दूसरे समय में भी जब राजा अपनी विजय निश्चित समझे अपने सैन्यबल से युक्त हो, तब विग्रहकर शत्रु पर चढ़ाई करे और जब शत्रुको अमात्य आदि के विरोध (फूट–पैर) या कठोर दण्ड आदि से व्यसन में पड़ा हुआ समझे तब भी (ग्रीष्म आदि) अन्य समय में शत्रु पर चढ़ाई करे।

कृत्या विधानं मूले तु यात्रिकं च यथाविधि।

उपगृह्यास्पदं चैव चारान्सम्पग्विधाय च।।

संशोध्य त्रिविध मार्ग षड्विधं च बल स्वकम्।

सापंरायिकल्पेन यायादरिपुरं शनैः।।

अपने किला तथा देश की रक्षा से लिए प्रधान पुरूष से युक्त सेना का एक भाग रखकर : यात्रा के योग्य शास्त्रोबल सवारी, शस्त्र, कवच आदि से युक्त होकर दूसरे राजा के राज्य में जाने पर मार्ग तथा स्थिति पाने के लिए उनके भृत्य आदि को अपने पक्ष में करके, कपट वेशधारी गुप्तचरों को शत्रु देश की प्रत्येक बात मालूम करने के लिए भेजकर, जंगल, अनूप तथा आटविक भेद से तीन प्रकार के मार्गो को पेड़ लता झाड़ी कंटक आदि कटवाने तथा नीची ऊँची भूमि को बराबर कराने से गमन के योग्य बनाकर और हाथी, घोड़ा, रथ, पैदल, सेना एवं कार्यकर्त्ता रूप छः प्रकार केवल (सेना) उचित भोजन–वस्त्र, मान–सत्कार एवं औषध आदि से शुद्धकर यात्रा के योग्य विधान से धीरे–धीरे शत्रु के देश को प्रस्थान करे।

शत्रुसेविनि मित्रे च गूढ़े युक्ततरो भवेत्।

गतप्रेत्यागते चैच स हि कष्टतरो विपुः।।[46]

गुप्त रूप से शत्रु,की ओर मिले हुए मित्र में और पहले विरक्त होकर फिर वापस आये हुए व्यक्ति (सैनिक या गुप्तचर आदि) में अत्यन्त सावधानी, रखे क्योंकि वे अत्यन्त कष्टकर शत्रु है।

दण्डव्यूहेन तन्मार्ग यायातु शकटेन वा।

वराहमकराभ्यां वा सूच्या वा गरूडेन वा।।

(राजा मार्ग में भय रहने पर) दण्डव्यूह से या शकटव्यूह से या वराव्यूह से या मकरव्यूह से या सूचीव्यूह से मार्ग में चले।

यतश्च भयमाशंकेत्ततो विस्तारयेद्बलम्।

पद्येन चैव व्यूहेन निविशेत सदा स्वयम्।।

(राजा) जिधर से भय की आशंका हो, उधर ही सेना का विस्तार करे और स्वयं सर्वदा पद्यव्यूह से (नगर से निकाल कर कपटपूर्वक) शत्रुदेश में प्रवेश करे।

सेनापतिबलाध्यक्षो सर्वदिक्षु विनेशयेत्।

यतश्च भयमाशंकेत्प्राचीं तां कल्पयेहिशम्।।

(राजा) सेनापति तथा कलाध्यक्ष को सब दिशाओं में फैलाकर नियुक्त करे तथा जिस दिशा की ओर से भय की आशंका हो, उस दिशा को पूर्व दिशा मानकर आगे उसी दिशा को करे।

गुल्मांश्च स्थापयेदाप्तान्कृतसंशान्समन्ततः

स्थाने युद्धे च कुशलानभीरूतविकारिणः।।

(राजा) रूकने, भागने या युद्ध करने के लिए विश्वासपात्र, शंख, भेरी, नगाडा, आदि वाद्यों के संकेतितः रूकने तथा युद्ध में चतुर, निडर और कभी विकृत नहीं होनेवाले सेना के एक भाग को चारो तरफ दूर तक शत्रु के प्रवेश को रोकने तथा उसकी चेष्टा को मालूम करते रहने के लिए नियुक्त करे।

संहितान्यौथयेदल्पान्कार्म विस्तारयेद्बहन्।

सूच्या वज्रेण चैवेतान्व्यूहेन व्यूह्य योधयेत्।।

(राजा) थोड़े योद्वा हो तो उन्हें थोड़ी दूर में ही संगठित कर तथा अधिक योद्धा हो तो उन्हें दूर तक फैलाकर सूचीव्यूह या 'वज्रव्यूह से मोर्चाबन्दी कर युद्ध करावे।

स्यन्दनाश्वैः समे युद्धयेदनूपे नोद्विपेस्तथा।

वृक्षगुल्मावृते चापेरसिचर्मायुधेः स्थले।।

(राजा) समतल युद्धभूमि में रथ और थोड़ों से, जलप्राय युद्धभूमि में नाव तथा हाथियों से, पेड़ तथा झाड़ियों से गहन युद्धभूमि में धनुषों से और कंटक पत्थर आदि से वर्जित युद्धभूमि में ढ़ाल–तलवार एवं माला–बर्छा आदि से युद्ध करे।

कुरूक्षेत्रांश्च मत्स्यांश्च पज्वालाजशूरसेनजान्।

दीर्धील्लधूश्चैव नारानग्रानीकेपु योजयेत्।।

(राजा) कुरूक्षे, मत्स्य (विराट), पाज्वाल कान्यकुब्ज तथा अहिक्षेत्र और शूरसेन (मथुरा) देश में उत्पन्न लम्बे कदवाले योद्धाओं को तथा अन्य देशोत्पन्न लम्बे या छोटे कदवाले युद्धाभिमानी योद्धाओं को युद्ध के आगे वाले मोर्चे पर नियुक्त करे।

प्रहर्षयेदूलं व्यूह्य तांश्च सम्यवपरीक्षयेत्।

चेष्टाश्चैव विजानीयादरीन्योधयतामपि।।[47]

(राजा) मोर्चा बनाकर सैनिकों को उत्साहित करे, उनकी अच्छी तरह जाँच करे तथा शत्रुओं से लड़ते हुए उनकी चेष्टाओं को मालूम करता रहे।

उपस्थ्यारिमासीत राष्ट्र चास्योपपरीडयेत्।

दूपयेश्चास्य सततं यवसान्नोदकेन्यनम्।।

(राजा) दुर्ग में या दुर्ग के बाहर स्थित शत्रु पर घेरा डालकर रहे, इसके दशको (लूटपाट आदि से) पीड़ित करे और इसके भूसा घास, अन्न जल और ईंधन को सर्वदा नष्ट करे अर्थात् दूषित द्रव्य (विषय आदि) मिलाकर उपयोग के आयोग्य बना दे।

भिन्द्याच्चैव लडागानि प्रकारापरिखास्तथा।

समवस्कन्दयेच्चैनं रात्रो वित्रासयेतया।।

(राजा) युद्ध के उपजीव्य तडाग, नहर कूप आदि को नष्ट कर दे, किले या नगर के परकोटे (चहारदिवारी) को तोड़ दे, खाई को मिट्टी आदि से भर कर सुखा दे (प्रवेश कर दे) इस प्रकार निर्भय होकर शत्रु को दवा दे तथा रात में नगाड़ा आदि युद्ध के वाजाओं को बजवाकर शत्रु को भयभीत करता रहे।

उपजप्यानुपजपेद् वुद्धयेतैव च तत्कृतम्।

युक्ते च दैवे युद्धेत जयप्रेप्सुरपेतभीः।।

(राजा) राज्याभिलाषी तथा भेद योग्य, शत्रु के दावादों को या मंत्री सेनापति आदि प्रकृति को फोड़े (विजय होने पर राज्य आदि का लोभ देकर अपने पक्ष में करे), उस (शत्रु) के द्वारा किये ऐसे कोर्य (भेद) को स्वयं मालूम करे और विजयाभिलाषी राजा निर्भय होकर शुभ मुहूर्त शत्रु से युद्ध करे।

सान्ना दानेन भेदेन समस्तेरथवा पृथक्।

विजेतुं प्रयतेतारीन्न युद्धेन कदाचन।।

(राजा) स्नान (प्रेम–प्रदर्शन), दान, भेद शत्रु के राज्यार्थी दायाद या मंत्री आदि को विजय होने पर राज्य आदि का लोभ देकर अपने पक्ष में करना। इन तीनों उपायों से अथवा इनमें से किसी एक या दो उपायों से शत्रुओं को जीतने का प्रयत्न करें, (पहले) युद्ध से जीतने की कदापि चेष्टा न करे।

भनित्यो विजयी यस्माद् दृश्यते युद्धमानयोः।

पराजयश्च संग्रामे तस्माद्युदधं विवर्जयेत्।।[48]

क्योंकि युद्ध करते हुए दो पक्षों को विजय तथा पराजय युद्ध में अनिश्चित रहती है, इस कारण युद्ध का स्थान करे।

प्रयाणामप्युपायानां पूर्वोक्तानामसंभ्वे।

तथा युद्धयेत सम्पन्नो विजयेत रिपून्यथा।।

(राजा) पूर्वोक्त तीनों (साम,दाम और भेद) उपायों के साधक न होने पर ही सैन्यादि शक्ति से संयुक्त होकर वैसा युद्ध करे, जिससे शत्रुओं को जीत ले। क्योंकि विजय होने से राज्य लाभ तथा युद्ध में सामने मरने पर स्वर्गलाभ होता है। किन्तु यदि निश्चित रूप से पराजय की ही संभावना हो तो युद्ध त्यागकर आत्मरक्षा करनी चाहिये– वहाँ से हट जाना चाहिए, क्योंकि मरने पर मनुष्य कोई कार्य साधन नहीं कर सकता, जिससे वह सुखी हो। इसी कारण मनु भगवान् ने आने (7/213) आत्मरक्षा करने पर जो दिया है।

जित्वा सम्पूज्येद देवान्त्राह्यणांश्चैव धार्मिकान्।

प्रदद्यात्परिहाराश्च ख्यापयेदभयानि च।।[49]

विजय लाभ कर देवताओं तथा धार्मिक ब्राह्मणों को गो, भूमि तथा सुवर्ण आदि दान देकर पूजा करे। 'जीती गयी वस्तुओं में से इतना अंश देवताओं तथा ब्राह्मणों के एि मैने दान दिया' ऐसा वहाँ के निवासियों से घोषणा करे तथा ''राजभक्ति से जिन लोगों ने अपने राजा का पक्ष लेकर मेरे विरूद्ध आचरण किया है उन्हें भी मैं अभयदान देता हूँ। वे निर्भय होकर अपने–अपने कार्यो की करे। ऐसी भी घोषणा करे।

सर्वेषां तु विदित्वेषां समासेन चिकीर्षितम्।

स्थापयेत्तत्र तद्वश्यं कुर्याच्च समयक्रियाम्।।

उस शत्रु राजा तथा मंत्री एवं प्रजा के मुख्य लोगों का अभिलाषा को मालूम कर उसी वंश में उत्पन्न व्यक्ति को उस राज्य में पुनः अभिषिक्त करे और उसके साथ समय क्रिया शर्तनामा– अमुक–अमुक कार्य तुम्हें स्वेच्छानुसार करना होगा तथा अमुक–अमुक कार्य मेरा आज्ञा से करता होगा इत्यादि।

प्रमाणानि च कुर्चीत तेषां धर्म्यान्धोदितान्।

रत्नैश्च पूजयेदेनं प्रधानपुरूषौः सह।।

विजयी राजा उन (जीते हुए देश के के निवासियों) के धार्मिक कार्यो को प्रमाणित करे (उन्हें चालू करे) और मंत्री आदि मुख्य लोगों के साथ उस नवाभिषिक्त राजा को रत्न आदि भेंट देकर सत्कृत करे।

आदानमप्रियंकर दानं च प्रियकारकम्।

अभीप्सितानामर्थानां काले युक्तं प्रशस्यते।।

(क्योंकि यद्यपि किसी की) अतिप्रिय वस्तुओं को ले लेना अप्रिय तथा दे देना प्रिय होता है, तथापि विशेष अवसरों पर ले लेना तथा दे देना– ये दोनों ही कार्य श्रेष्ठ होते हैं । अतः नये राजा के लिए रत्नादि का उपहार देना ही श्रेष्ठ है।

सर्व कर्मेठमायत्तं विद्या ने देवमानुषे।

तयोदैंवमचिन्त्यं तु मानुषे विद्यते क्रिया।।

दैवेन विधिना युक्त मानुष्य यत्प्रवर्तते।

परिक्लेशेन महता तदर्थस्य समीधकम्।।

संयुक्तस्यापि दैवेन पुरूषकारेण वर्जितम्।

बिना पुरूषकारेण फलं क्षेत्र प्रयच्छति।।

चन्द्रार्काद्या ग्रहा वायुरग्निपरापस्तथैव च

इह दैवेन साध्यन्ते पौरूषेण प्रयत्नतः।।[50]

इस संसार में जो कुछ कार्य, वे सब भाग्य तथा मनुष्य के अधीन है, उनमें दैव (पूर्वजन्मकृत) कार्य अचिन्त्य है (का क्या होनेवाला है, इसे कोई नहीं जानता) और (मनुष्य) मनुष्य संबंधी अर्थात् वर्तमान में किया जानेवाला (कार्य में पर्यालोचन है) अतएव मनुष्य को स्वकार्य सिद्धि के लिए यत्न करते रहना चाहिए।

भाग्य–विधान से सहित जो मनुष्य कार्य किया जाता है, वह बड़े कष्ट से सिद्ध होता है। भाग्य से संयुक्त भी पुरूषार्थ से रहित कार्य, पुरूषार्थ के बिना खेत में पड़े हुए बीज के समान फल देता है।

चन्द्र, सूर्य आदि ग्रह तथा वायु, अग्नि और जल पुरूषार्थ से यत्न के द्वारा दैव (ईश्वरीय) पुरूषार्थ से इस संसार में साध जा रहे है।

सह वाऽपि ब्रजेद्युक्तः सधि कृत्वा प्रयत्नतः।

मित्र हिरण्यं भूमि वा संपश्यस्त्रिविधिं फलम्।।

(विजिगोपु राजा पुर्वोक्त प्रकार से युद्ध करे) अथवा उसके साथ मित्रता कर उस शत्रु राजा द्वारा दिये गये सुवर्ण (रत्नादि सम्पत्ति) तथा राज्य की एक भाग भूमि इन तान (मित्र, सुवर्ण तथा भूमि) को युद्ध यात्रा का फल मानकर यत्नपूर्वक उस राजा के साथ संधि करे।

पार्ष्णिग्राहं च संप्रेक्ष्य तथाकन्र्द च मण्डले।

मित्रादधाप्यमित्राद्वा यात्राफलमवाप्नुयात्।।

(विजिगोषु राजा) पाष्णिग्राह तथा आकन्द राजा का अपने मण्डल में ध्यान कर यात्रा करे और मित्र (संधि किया हुआ शत्रु) या अभिन्न (हारा हुआ शत्रु) राजा से यात्रा का फल (मित्रता और मित्र) संधि किया हुआ शत्रु या अमित्र (मित्रता, सुवर्ण तथा भूमि) को अवश्य लेवे।

हिरण्यभूमिसम्प्राप्त्या पार्थिवो न तथैधते।

यथा मित्रं ध्रुव लब्ध्वा कृशमप्यायतिक्षमम्।।

राजा मित्र तथा राज्य की प्राप्ति से वैसी उन्नति नहीं करता, जैसी वर्तमान में दुर्बल होने पर भी भविष्य में उन्नति करनेवाले स्थायी मित्र की प्राप्ति से (उन्नति) करता है।

धर्मशं च कृतज्ञं च तुष्टप्रकृतिमेव च।

अनुरक्तं स्थिरारम्भ लघुमित्रं प्रशस्यते।।

धर्मश, कृतज्ञ, संतुष्ट अमात्य आदि प्रकृतिवाला, अनुरक्त, स्थिर कार्यारंभ करनेवाला छोटा भी मित्र श्रेष्ठ होता है।

प्राज्ञं कुलीनं शूरं च दक्षं दातारमेव च।

कृतज्ञं धूतिमन्तं च कष्टमाहुररि धुधाः।।

विद्वान, कुलीन, शूरवीर, चतुर, दानी, कृतज्ञ और (सुख–दुःख में) धैर्ययुक्त शत्रु को विद्वान लोग कष्टसाध्य (कठिनता से जीतने योग्य) कहते हैं। अतएव ऐसे शत्रु से संधित कर लेना चाहिए।

आर्यता पुरूषज्ञानं शौर्य करूणवेदिता।

सधोललक्ष्य च यततमुदासीनगुणोदयः।।[51]

सज्जनता, मनुष्यों को पहचान करना, शूरता, कृपालुता और सर्वदा दान देना ये सब उदासीन राजा के गुण है। अतएवं इस प्रकार के उदासीन राजा का आश्रय कर पूर्वोक्त (2/210) लक्षण वाले शत्रु से भी युद्ध करना चाहिए।

क्षेम्धां सस्यप्रदां नित्यं प्शुवृद्धिकरीमपि।

परित्यजेन्नृपो भूमिमात्मार्थमूविचारयम्।।

(नीरोगता आदि गुणों से युक्त होने के कारण) कल्याणप्रद, (नद, नहर, तडागादि होने से वृष्टि का अभाव होने पर भी धान्य उत्पादन करनेवाली, अधिक घास आदि होने से) पशुओं की वृद्धि में सहायक भूमि को राजा आत्मरक्षा के लिए बिना विचार किये छोड़ दें।

आपदर्थ धन रक्षेद्दारानक्षेद्धनेरपि।

आत्मानं संतत रक्षेहारेपपि धनेरपि।।

व्यक्ति के लिए धन का रक्षा करे, धनों के द्वारा स्त्रियों की रक्षा केर और धन तथा स्त्रियों के द्वारा सर्वदा अपनी रक्षा करे। यह सर्व–सामान्य धर्म माना गया है।

सह सर्वाः सुप्तुत्पन्नः प्रसमीक्ष्यापदो भृशम्।

संयुक्ताश्च वियुक्ताश्च सर्वोपायान्सूजेछ बुधः।।

सब आपत्तियों (कोषक्षय, अमात्यादि प्रकृतिकोष तथा मित्रादिज्यसन प्रभृति) को अधिक मात्रा में एक साथ उपस्थित जानकर विद्वान राजा (घबराये नहीं, किन्तु) सम्मिलित या पृथक–पृथक सब उपायों (साम, दाम, दण्ड और भेद) को काम में लावे।

उपेतारमुपेयं च सर्वोपायांश्च कुत्स्नशः ।

एतरत्रयं समाश्रित्य प्रयतेताधसिद्धये।।

(राजा) उदेता प्राप्तिकर्ता अर्थात अपने (उदेय) प्राप्ति करने योग्य अर्थात् शत्रु तथा परिपूर्ण सामादि सब उपाय इन तीनों को अवलम्बन कर प्रयोजन का सिद्धि के लिए प्रबल करे।

एवं सर्वमिदं राजा सह समंत्रय मंत्रिभिः।

व्यायाम्पाप्लुत्य मध्याहे भोक्तुमन्तः पुर विशेत्।।

राजा इस प्रकार इन सब विषयों को मंत्रियों के साथ में विचार (गुप्त परामर्श) कर मुद्रर या अन्य शस्त्र आदि के अभ्यास से (व्यायाम कर दोपहर को स्नान) तथा मध्याह्कृत्य –संध्यापासनादि नित्यकर्म से निवृत्त होकर भोजन करने के लिए अन्तःपुर (रनिवास) में प्रवेश करे।

तत्रात्मभूतेः कालेशेरहायेः परिचारकेः।

सुपरीक्षितमन्नाधमतान्मन्त्रेर्विषाप है।।

वहाँ (अन्तःपुर में) अपने तुल्य, भोजन समय के ज्ञाता, किसी शत्रु आदि से फोड़कर अपने पक्ष में नहीं करने योग्य परिचारकों (पाचक आदि) से बनाये गये एवं परीक्षा किये गये अन्न आदि (भोज्य, पेय, लेहा, चाष्य आदि पदार्थ) को विषनाशक मंत्रों से (गारूड़ादि मंत्रों को जपकर) भोजन करे।

विषध्नैरगदेश्चास्य सर्वद्रव्याणि योजयेत्।

विषध्नानि च रत्नानि नियतो धारयेत्सद्रा।।

राजा विषनाशक औषधों से (खाने के लिए दिये गये) सब अन्न को संयुक्त करे तथा सावधान रहते हुए विषनाशक (गारूडादि) रत्नों को सर्वदा धारण करे।

परीक्षिताः स्त्रियष्चे व्यजनोदकधूमनैः।

वेषाभरणशंशुद्धाः स्पूशेयुः सुसमाहिताः।।

(गुप्तचरों के द्वारा) परीक्षित, गुप्त शस्त्र रखने तथा विष–लिप्त भूषण आदि धारण करने की आशंका से (नियत वेश तथा भूषणों से अच्छी तरह शुद्ध (दोषरहित) स्त्रियां परिचारिकायें अर्थात दासियां चारमे आदि से हवा करने, स्नान तथा पीने के लिए पानी देने और सुगंधित धूप आदि करने से राजा की सेवा करे।

एवं प्रयत्नं कुर्वीत यानशप्यासनाशने।

स्नाने प्रसाधने चैव सर्वालंकारकेषु च।।[52]

(राजा) अपने (यान) सवारी अर्थात् रथ, अश्व, गज आदि, शय्या पंलग या शयनगृह (आसन) बैठने के सिंहासन या अन्य चौकी आदि, अशन (भोजन), स्नान प्रसाधन तेल आदि का मर्दन या चंदन आदि का (लेपन) सब प्रकार के भूषणों के धारण करने में इसी प्रकार अच्छी तरह परीक्षा कर उन्हें अपने व्यवहार में लाने का प्रबन्ध करे।

भुक्तवान्विहरेच्चैव स्त्रीभिरन्तःपुरे सह।

विहृत्य तु यथाकालं पुनः कार्याणि चिन्तयेत्।।[53]

भोजन कर राजा रनिवास में रानियों के साथ विहार (क्रीड़ा आदि) करे तथा यथा समय दिन के समय भाग में विहार कर (दिन के अष्टम भाग में) राज कार्यो का चिंतन करे।

अलंड कृतश्च सम्पश्येदायुधीयं पुनर्जनम्।

वाहनानि च सर्वाणि शास्त्रण्या भरणानि च।।

अलंहार आदि पहना हुआ राजा फिर शस्त्राधारी सैनिकों, हाथी–घोड़ा आदि वाहनों, खड्ग, तोमर, कन्ताहि सब अस्त्र–शस्त्र और भूषयों का निरीक्षण करे।

संध्यां चौपास्य श्रृणुयादर्न्वेश्मनि शस्त्रभूत।

रहम्याख्याधिनां चैव प्रणिधीनां च चैष्टितम।।

गत्या कक्षान्तरं त्वन्यत्समनुज्ञाप्य तं जनम्।

प्रविशेद्रोज्ञनार्थ च स्त्रीवृतोऽन्तःपुर पुनः।।

(फिर राजा) सायंकाल का संध्वोगलन करके दूसरी कक्ष (ड्योढ़ी) के भीतर एकान्त स्थान में स्वयं शास्त्र को धारण कर गुप्त समाचारों को बतलानेवाले गुप्तचरों के कामों को सुने और उसके बाद उन्हें विदाकर परिचारिकाओं (दासियों) से परिवृत होकर भोजन के लिए फिर अन्तःपुर में प्रवेश करे।

तत्र भुक्त्वा पुनः किंचित्तूर्यघोषेः प्रहर्षितः।

संविशेत यथाकलमुत्तिष्ठेच्च गतक्लमः।।

वहाँ (रनिवास) में बाजाओं के शब्दों में प्रहर्षित होकर फिर कुछ भोजनकर यथासमय सो जावे और श्रमरहित होकर शेष रात्रि में उठ (जग) जावे।

एतद्विधानमातिष्ठेद्रोगः विनियोजयेत्।

अस्वस्थः सर्वमेतत्तु भृत्येषु विनियोजयेत्।।

नीरोग राजा इन सब कार्यो को स्वयं करे तथा अस्वस्थ हो तब इन सब कार्यो को मुख्य मंत्रियों के उत्तरदायित्व पर सौपें।

ISBN: 978-81-19149-32-2

अध्याय 3

राजा एवं मंत्रिपरिषद

प्राचीन भारतीय शासन व्यवस्था एवं प्राचीन भारतीय संविधान के निर्माता के रूप में हम अनुस्मृति के स्मृतिकार मनु महाराज को पाते है। प्राचीन भारतीय स्मृतिकारों ने शासन को सुचारू रूप में चलाने के लिए कुछ अपनी चिंतन प्रक्रिया से राजधर्म का वर्णन किया है। राजधर्म किसे कहते है? राजधर्म का पालन कौन करता है और किस प्रकार किया जाता है? राजा के क्या कर्त्तव्य है और क्या आचरण है? राजा की उत्पत्ति कैसे और कब किस परिस्थिति में हुई? मनु ने अपनी मनुस्मृति में आचार–व्यवहार की शिक्षा देते हुए मानव को कर्त्तव्य के प्रति जागरूक और अकर्त्तव्य के प्रति उदासीन रहने का उपदेश दिया है।[1] समाज में सभी प्रकार की चित्रवृत्तियों के लोग रहते हैं। सबके एक समान विचार नहीं होते। अतः सभी एक ही मनोवृत्ति से कार्य करे, यह भी कभी संभव नहीं हो सकता और यदि यह संभव नहीं हो सकता और यदि यह संभव नही तो सुव्यवस्था कैसे रह सकती है? व्यक्ति की सुरक्षा, समाज की उन्नति और राष्ट्र के लिए कोई एक क्रमबद्ध योजना या व्यवस्था बनानी होगी। उस व्यवस्था को चलाने के लिए किसी मान्यता प्राप्त शक्तिशाली की आवश्यकता हुई। मानव धर्मशास्त्र के अनुसार राजधर्म का विवेचन किस प्रकार किया गया। इस प्रकरण में हम उसी का विस्तृत और प्राचीन भारतीय राजनीतिशास्त्र के दृष्टिकोण से वर्णन करेंगे।

3.1 अराजक अवस्था :

मनु ने उस अवस्था का वर्णन किया है जिसमें राजा का अस्तित्व ही न था। इस अवस्था को वे प्राकृतिक अवस्था कहते हैं। इस प्रकार की प्राकृतिक अवस्था की कल्पना हाब्स लाक तथा रूसी ने अपने अनुबंध के सिद्धान्त को प्रतिपादित करने के लिए की है। मनु ने इस प्राकृतिक अवस्था को अत्यन्त भयंकर बताया है। मनुष्य को इस अवस्था से मुक्ति प्रदान करने के उद्देश्य से ही परमेश्वर ने राजा की उत्पत्ति को मनु के अनुसार–

अराजके हि लोकेऽस्मिन् सर्वतो विद्रते भयात्।

रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानम सृजत प्रभुः।।[2]

अर्थात् अराजक अवस्था में जब संसार में सर्वत्र भय छा गया, तो संसार की रक्षा के लिए प्रभु ने राजा की सृष्टि की। मनु ने उस अराजक अवस्था का उल्लेख करते हुए कहा है कि उसमें–

जले मत्स्यानिवाभक्षयन् दुर्बलन् बलबतराः

अर्थात् जिस प्रकार जल की मछलियाँ निर्बल मछलियों की हिंसा कर देती है, उसी प्रकार बलवान लोग दुर्बलों की हिंसा कर देते हैं।

3.2 राजा की उत्पत्ति क्यों और कैसे हुई?

जगत में राजा को क्यों आवश्यकता पड़ी। प्रत्येक कार्य अपने आप स्वयं चलता जा रहा है। इस प्रकार राजा को उत्पत्ति कैसे हुई। इस प्रश्न का उत्तर मानव धर्मशास्त्र के निर्माता मनु ने अपनी मनुस्मृति में इस प्रकार दिया हैः–

महर्षि भृगु अन्य जिज्ञासु, महर्षियों की राजधर्म का उपदेश देते हुए यह बता रहे हैं कि इस जगत में अराजकता के कारण, शक्तिशालियों के भय से शक्तिहीन पीड़ित होने लगे ऐसी स्थिति में इस जगत की रक्षा के लिए प्रभु उस ईश्वर ने राजा की उत्पत्ति की।[3]

राजा की उत्पत्ति में तेजस्वी शक्तियों का हाथ था और इन्द्र, वाायु, यम, सूर्य, अग्नि, वरूण, चन्द्रमा और कुवेर के अंशों को लेकर राजा का प्रादुर्भाव हुआ। इस प्रकार की उपमायें देकर राजा को सम्मानित स्थान पर बैठाया गया। संसार उस तेजपूंज को देखकर आनन्दित, शक्तिशाली भयभीत और निर्बल प्रसन्न होने लगे। राजा की उत्पत्ति के पश्चात् दुष्टों को नियंत्रण में रखने के लिए सुव्यवस्था लाने के लिए राजा की अग्नि से समता करते हुए सुशासन स्थापित करने हेतु एवं दुष्टों को य राज्य विरोधी तत्वों को नियंत्रित करने के लिए इस प्रकार वर्णन किया गया है कि कोई भी राजा का अपमान न करें, क्योंकि यदि राजा कुपित होगा तो क्या स्थिति होगी?

इस प्रकार अग्नि तो केवल स्पर्श करने वाले व्यक्ति को ही जलाती है किन्तु राजा के क्रुद्ध होने पर राजाग्नि व्यक्ति के संचय किये हुए पशु, धन और समस्त कुल को भस्म कर देती है।4 अतः राजा के विरूद्ध इस प्रकार को क्रोध को देखकर कोई भी व्यक्ति कार्य करने का साहस नहीं कर सकता था।

3.2.1 राजा की सर्वोच्चता :

मनु के अनुसार अग्नि केवल उसी का दाह करती है जो उसको कुचलता है परंतु राजा उन व्यक्तियों को नीति के विरूद्ध काम करते हैं उनके कुल को धन समेत समाप्त कर देता है।

एक मेष दहत्यिनर्नर दुरूप सापिंराप।

कुल दहपि राजाऽग्नि स पशुद्रव्य सज्वयम्।।

यह बात विशेष रूप से ध्यान रखने योग्य है कि राज्य के देवत्व की स्थापना वैदिक काल में नहीं थी। उस समय राजा का पद पूरातिया लौकिक था। दूसरे यह विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि हिन्दु–धर्मशास्त्रों ने राजपद को देवी बतलाया है न कि राजा को व्यक्ति के रूप में।

3.2.2 राजा का कार्य :

मनु ने राजा को सर्वोच्च सत्ता के रूप में इंगित किया। उन्होंने इसका भी वर्णन किया है कि राजा के क्या लक्षण है। उनका कथन है कि राजा देश, काल तथा कर्म के अनुसार जिस

कार्यो को करे। राजा को भिन्न–भिन्न परिस्थितियों में भिन्न–भिन्न व्यवहार को कार्य के रूप में लाना पड़ता था। इसके लिए उसे कभी क्षमा, दया, कोष युद्ध तथा मंत्री विभिन्न प्रकार के कार्यो का करना पड़ता था। मनु ने कहा कि राजा को देश, काल, शक्ति विद्या को ध्यान में रखकर शास्त्रानुसार अपराधी को उसके कार्य के अनुसार दण्ड का विधान करना चाहिए।[5]

राज्य–शासन के प्रत्येक विषय पर मनु ने ध्यान आकृष्ट किया है। मनु ने दण्ड को ही राजा माना है। राजा का यह कर्तव्य है कि वह साधु प्रकृति के व्यक्तियों को रहने के लिए सुविधा प्रदान करे तथा उन व्यक्तियों को दण्डित करे जो समाज में विघ्न पैदा करे। दण्ड के द्वारा ही व्यक्ति को सन्मार्ग में ले जाया जा सकता है। दण्ड के न होने से समस्त वर्णो में भ्रष्टाचार पैदा हो जाता है तथा लोक में (राज्य) प्रकोप (अव्यवस्था) पैदा हो जाता है। दण्ड नीति से राज्य में शान्ति एवं सुव्यवस्था रहती है तथा नित्य प्रति राज्य की उत्पत्ति होती रहती है। पर इसके विपरीत जो राजा दण्ड–नीति के विरूद्ध कार्य करता है वह दण्ड ही के द्वारा नष्ट कर दिया जाता है।

3.2.3 राज्य की उत्पत्ति :

राज्य की उत्पत्ति के बारे में भी मनु के विचार उल्लेखनीय हैं। मनु ने राज्य की उत्पत्ति के संबंध में सावयव तथा देवी उत्पत्ति के सिद्धान्त को ही श्रेष्ठ माना है। मनु ने सम्पूर्ण सृष्टि की उत्पत्ति का स्रोत एक विशाल पुरूष के अंगों को माना है। राज्य की उत्पत्ति अनेक अवयवों के परिणामस्वरूप हुई। मनु ने राज्य के सात अवयव अथवा अंग माने है। वे हैं– राजा, अमात्य, सुहृद, पुर, राष्ट्र तथा दण। ये सभी अंग एक दूसरे पर आधारित है। ये अंग एक दूसरे को प्रभावित करते हैं।

अत्यन्त प्राचीन काल से ही राजा की उत्पत्ति देवी बतलाई गई है। मनु का कथन है कि राजा की उत्पत्ति ईश्वर ने सम्पूर्ण संसार के कल्याण हेतु तथा रक्षा के लिए इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, अग्नि, वरूण, चन्द्र तथा कुवेर इत्यादि में सन्निहित मुख्य–मुख्य अंशों कोनिकाल कर की है। मनु ने राजा की पवित्रता का उल्लेख करते हुए कहा है कि6:–

इन्द्राऽनिलयमाकर्निणामग्नेश्च वरूणास्य च।

चन्द्रवितेशयोश्चैव मात्रा निहस्य शाश्वतीः।

तपस्यादित्यवच्चैव चक्षषि मनांसि च।

न चैन भुवि शक्नोति कचिदप्यभिवीक्षितुम्।

अर्थात् भगवान ने राजा का निर्माण इन्द्र, अग्नि, यम, सूर्य, वायु वरूण तथा कुबेर से अंश लेकर किया है।

अतः वह सबकी आँखों तथा मनों को सूर्य के समान अपने तेज से तत्व करता है तथा पृथ्वी पर कोई भी मनुष्य उसकी ओर आँख उठाकर नहीं देख सकता। अतः राजा ही निज प्रभाव

के कारण स्वयं अग्नि, वायु, सूर्य, सोम, कुबेर, वरूण तथा महेन्द्र होता है। इसी संबंध में मनु ने कहा है कि[7]:–

बालोऽपि नावमन्तव्यां मनुष्य इति भूमिपः।

महती देवता ह्येषा न रूपेरा तिष्ठति।।

अर्थात् यदि कोई बालक भी राजा हो तो यह जानकर उसको अपमानित न करना चाहिए कि यह तो अभी बालक है, क्योंकि मनुष्य के रूप में वस्तुतः वहएक देवता ही होता है। इस प्रकार मनु ने राजा को देवत्व प्रदान करने की चेष्टा की है।

मनु का कथन है कि राजा को ऐसे कृत्य करने चाहिये जो सब स्थानों में पूजनीय हो। राजा को उन्होंने मार्ग प्रदर्शक माना है। उनका कहना है कि जो सम्राट पापी एवं दुष्ट मनुष्यों का अग्नि के समान विनाश करता है उसको अग्नि के समान व्रती माना जाता है।

3.2.4 राजा के गुण :

राजा के गुणों का उल्लेख करते हुए मनु ने बतलाया है कि उसे विनीत होना चाहिए तथा समस्त व्यसनों से दूर रहना चाहिए। उसे सदैव अपनी इन्द्रियों के ऊपर विजय प्राप्त करने के लिए तत्पर रहना चाहिए। उसे जितेन्द्रिय होना चाहिए क्योंकि जितेन्द्रिय राजा ही राजा को अपने वश में कर सकता है। मनु के अनुसार दस व्यसनों की उत्पत्ति वासना से तथा आठ व्यसनों की उत्पत्ति क्रोध से होती है। राजा को चाहिये कि इन व्यसनों से प्रयत्नपूर्वक बचे।

जो राजा काम वासना द्वारा पैदा किये गये व्यसनों में फँस जाता है, उसका धर्म तथा कर्म के साथ सहयोग नहीं रहता। क्रोध द्वारा पैदा किये गये व्यसनों में फँस कर राजा स्वयं को भी भूल जाता है। इसका उल्लेख मनु ने निम्न प्रकार से किया है[8]:–

इन्द्रियाणां जय यौयम समातिष्ठेद्दिवानिशम्।

जितेन्द्रियो हि शवनोति वशे स्थापयितुं प्रजाः।।

दशकामलमुस्थानि तथाष्ठो क्रोधजानि च।

व्यसनानि प्रयत्नेन विकर्जयेत्।

वियुज्येतऽथकामाभ्यां क्रोधजेष्वात्मनैवतु।।

उपरोक्त विवेचन के अतिरिक्त मनु ने राजा में प्रजा के कल्याण की भावना का होना भी आवश्यक माना है। वह तभी तक अपने पद में रह सकता है जब तक उसमें प्रजा–कल्याण की भावना है। उसमें देवत्व तभी तक है जब तक वह नैतिकता तथा सदाचार के अनुसार अपने कर्त्तव्यों का निर्वाह करता है।

अतः राजा को अपने कर्त्तव्यों का निर्वाह राजधर्म के अनुसार करना चाहिए। मनु ने राजा को एक आदर्श चरित्र के रूप में चित्रित किया है। मनु के अनुसार राजा की योग्यता से ही राज्य की उत्पत्ति होती है। जिस प्रकार देवता अपने विभिन्न कार्यों से मनुष्य मात्र को लाभ पहुँचाते हैं,उसी प्रकार राजा को भी चाहिये कि वह ऐसे कार्य करे जो प्रजा के लिए हितकर हो।

3.3 राजा की आवश्यकता क्यों हुई और उसके क्या कर्त्तव्य है?

प्रजावर्ग में दुष्ट सज्जनों को, शक्तिशाली शक्तिहीनों को, समाज विरोधी और अवांछनीय तत्व समाज को भयभीत एवं आतंकित न कर सकें। अतः योग्य, नीतिशास्त्र, सज्जनों का सेवक विनयशील, चारों विद्याओं ने सम्पन्न, (आन्वीक्षकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति)।[9]

- **आन्वीक्षकी**– दर्शनशास्त्र एवं लोक कल्याण का जिससे ज्ञान हो उससे आन्वीक्षकी विद्या कहते हैं।
- **त्रयी**– इसमें धर्म अधर्म का प्रतिपादन किया गया है। तीनों वेदों ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद का इससे बोध होता है। अतः इसे त्रयी नाम से सम्बोधित किया गया है।
- **वार्ता**– उसका अर्थशास्त्र के लिए प्रयोग हुआ है। कृषि वाणिज्य और पशुपालन को वार्ता कहते है। इससे राज्य की आर्थिक व्यवस्था उन्नत और दृढ़ होती है।
- **दण्डनीति**– ऊपर वर्णित तीनों विद्याओं के योग क्षेम करने वाली को दण्डनीति कहते हैं। इस प्रकार सर्वगुण युक्त राजा को प्रजा की सेवा और रक्षा के लिए ही आवश्यकता प्रतीत हुई।

राजा अपने परिवार और प्रजाजन के लिए एक आदर्श माना गया है अतः उस आदर्श राजा को सर्वप्रथम अपने आचरण को शुद्ध और अपने चारों ओर का वातावरण भी अपने अनुकरणीय व्यवहार से इच्छा रखना चाहिये। जिससे मित्र, कर्मचारी और प्रजाजन भी वैसा ही बनने के लिए प्रयत्न करेंगे।

श्रेष्ठजन के आचरण को देखकर साधारण जन प्रभावित होकर वैसा ही कार्य करने लग जाते हैं। वह (श्रेष्ठ) पुरूष जो प्रमाण कर देता है लोग उसकी अनुसरण करते है।[10]

अतः इस प्रकार का राजा ही प्रजा का प्रिय और अच्छा शासक हो सकता है– इन्द्रियजित राजा ही प्रजा को वश में रखने में समर्थ हो सकता है।[11]

काम से उत्पन्न होनेवाले इन दस व्यसनों से अच्छा शासक दूर रहे।

1. पृगया, 2. द्यूत, 3. दिन में सोना, 4. दूसरों की निन्दा, 5. स्त्री में अत्यधिक आसक्ति, 6. मद्यपान, 7. नाच गाने की प्रकृति, 8. व्यर्थ का भ्रमण।[12]

इसी प्रकार क्रोध से उत्पन्न होनेवाले इनद स व्यसनों से अच्छे शासक और प्रशासक को सावधान रहना चाहिये।

1. निन्दा करना, 2. दुस्साहस कार्य, 3. कपट, 4. ईर्ष्या करना, 5. असूया (अच्छे लोगों के गुणों में अवगुण खजाना), 6. दूसरों का धन हरण करना, 7. कठोरवचन बोलना, 8. कठोर दण्ड देना।[13]

मनु ने अपने मानवशास्त्र में मानवीय मनोवृत्तियों को दृष्टि में रखते हुए मनोवैज्ञानिक पद्धति से मनुष्य से उसकी दूषित वृत्तियों को दूर कर वस्तुतः एक उत्तरदायित्व पूर्ण कार्य को करनेवाले प्रशासक को अपने पद, स्थान और गरिमा का ध्यान रखते हुए इन मन से उत्पन्न होनेवाले दोषों से किस प्रकार बचना चाहिए। उन इच्छा और क्रोध से उत्पन्न होने वाले भावों (विचारों) का शमन एक आदर्श राजनीतिज्ञ के लिए आवश्यक बताया गया है। विशेष रूप से प्राचीन भारतीय राजनैतिक विचारों ने प्रजा के हित को दृष्टि में रखकर शासकों को बूरे पथ से हटाकर प्रजा के हित को ही मुख्य समय कर कार्य करने पर अधिक बल दिया है। नासक शक्तिशाली और सर्वगुण सम्पन्न होता है। अतः मन की दुर्बलता, क्षणिक इन्द्रिय जन्म सुख के लिए वह दुषित विचारों के पीछे चलनेवाला न हो। इस त्रुटियों को समझते हुए राजा को वास्तविकता बताकर चिरकाल तक सुशासन करने की दिशा दिखाई है।[14]

प्राचीन भारतीय विचारकों के विचारों का अध्ययन करने पर और उनके अनुभवजन्य कार्यों का विवेचन करने से यही निष्कर्ष निकलता है कि एक साधारण व्यक्ति तन, मन और धन की शक्ति पाकर मनमाना कार्य करने पर उतारू होकर दूसरे लोगों पर अपनी भली बूरी वृत्तियों के अनुकूल आतंक छा देता है। अतः ऐसे लोगों की वृत्तियों पर नियंत्रण रखने और उनको शमन करने के लिए क्या करना चाहिये?

इसके लिए हमारे प्राचीन भारतीय विचारों ने अच्छे अनुभवी लोगों का संगत और सद्शास्त्रों के अध्ययन को उसका निदान बताया है। विद्वानों, सज्जनों, के संग से दुर्गुण और दुर्व्यसन दूर होंगे। सद्शास्त्रों के अध्ययन से दृष्टि पवित्र होगी और हृदय निर्मल होगा।

प्राचीन भारतीय विचारकों ने मनुष्य की दुर्बलताओं और विशेषकर सामर्थ्यवान राजा की त्रुटि को देखकर उसे अच्छे लोगों की संगत में आने का मार्ग बताया है। प्रायः ऐसा भी देखा जाता है कि एक दो व्यक्ति किसी सामर्थ्यवान व्यक्ति को साथी के रूप में मिल जाते हैं तो उसे उसकी बुरी मनोवृत्तियों के अनुकूल चलने देते हैं। जिससे ऐसे लोग उस शासक को व्यसनी बनाकर अपना व्यक्तिगत स्वार्थ सिद्ध करके अधिक लोगों और उसका अहित करते हैं।

3.4 कैसे स्थान पर राजा का निवास स्थान होना चाहिए?

जांगल, धान्य सम्पन्न, अधिक धार्मिक लोगों से युक्त फल, फूलों से रम्य, नम्र पड़ोसी वाला स्थान एवं जहाँ राज्य की आजीविका भी हो सके ऐसे देश में राजा निवास करे।[15]

यहाँ पर जांगल उस स्थान का नाम माना गया है, जहाँ अत्यधिक पानी न हो, अधिक घास न हो, जहाँ स्वच्छ जल वायु हो, सूर्य का पूर्ण प्रकाश प्राप्त हो एवं धान्यादि खाद्य सामग्री पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हो। अच्छे शासक को अपने शासन की समृद्धि हेतु सर्वप्रथम निवास की सुन्दर व्यवस्था करनी होगी। तत्पश्चात् भोजन और आच्छादन का प्रबन्ध होना चाहिये। भोजन प्राप्ति का साधन अच्छी धरती है।

अतः इन समस्त प्रकार की सुविधाओं को दृष्टि में रखते हुए, प्राचीन भारतीय राजनैतिक विचारकों ने राजा को ऐसे सुन्दर एवं ऊपर युक्त गुणों वाले स्थान की राजधानी बनाने का परामर्श दिया है। आर्थिक स्थिति के सुन्दर और दृढ़ होने पर ही सामाजिक स्थिति अच्छी हो सकती है। यह भी विचारकों की राय है कि राजनैतिक स्थिति एवं राजा अपनी शक्ति का परिचय सभी दे सकता है जब उसका देश आर्थिक और सामाजिक स्थितियों में आत्मनिर्भर एवं जीवनोपयोगी सामग्री से सम्पन्न है।[16]

राजा का बल प्रजा ही है। प्रजा के सुखी और सम्पन्न रहने पर ही राजा को सभी प्रकार से सेवा कर सकती है। प्राचीन भारतीय विचारकों के विचारों का गंभीरता और न्यायिक दृष्टि से मनन करने के पश्चात यह निष्कर्ष निकलता है कि प्राचीन भारतीय समाज आर्थिक और सामाजिक दिशा में इतनी उन्नति कर चुका था कि उसे इतना सुदृढ़ होने पर ही राजनीति के छत्र में चिंतन करने की आवश्यकता प्रतीत हुई। जो सभी गुणों से सम्पन्न होगा उसे ही समस्त प्रकार की चिन्ताओं को छोड़कर, उसी चिंतन क्रिया की आवश्यकता होगी। प्राणी जगत में मानव सर्वोत्तम, शक्तिशाली और चिन्तनशील माना गया है। उसने चिंतन के क्षेत्र में जो उन्नति की वह उसकी एक दिन की संचित राशि नहीं थी अपितु उसे अपनी प्राचीन पीढ़ियों से प्राप्पत संस्कृति के रूप में यह चिंतन सार मिला है। संसार के विकास के इतिहास के अध्ययन से परिलक्षित होता है कि मानव अपनी समस्त प्रकार की इच्छाओं की पूर्ति कर लेने के पश्चात् ही अपने अनुभवों एवं जगत के कष्टों को देखकर शान्ति लाने की व्यवस्था को सोचता है जिसका आधार स्वयं सुखी रहना और दूसरों को भी सुख से रहने देना है।

यह कार्य राजनैतिक चेतना से ही संभव था। हमारे प्राचीन भारतीय राजनैतिक विचारों का इसमें प्रमुख स्थान है। संसार के सभी उन्नतशील देशों ने राजनीति के क्षेत्र में उन्नति की किन्तु यह एक विवाद का विषय है कि किसने सर्वप्रथम इस चिंतन प्रक्रिया की ओर ध्यान दिया? आधुनिक विदेशी शिक्षा प्रेमी और विदेशी सभ्यता का चश्मा लगाये हुए विचारक अरस्तु हॉब्स, लीक रूसी आदि का नाम लेकर उन्हें ही पथप्रदर्शक मानने लगते हैं, किन्तु जिस भारतीय वाङ्मय के देदीव्यमान सूर्य से समस्त जगत को अपने अनादिकाल की चिंतन की ज्ञान राशि से प्रकाश दिया। उस अगाध ज्ञान सम्पदा की ओर हमारा ध्यान ही नहीं।

3.5 कार्यो के अनुरूप अनेक अध्ययनों की नियुक्ति :

शासन की सुव्यवस्था हेतु वहाँ–वहाँ अनेक अध्यक्षों की राजा नियुक्ति करे और वे अध्यक्ष राजा के समस्त कार्यो को करें एवं देखें।[17]

जहाँ राजा का राज्य संचालन में महत्त्वपूर्ण स्थान है वहाँ दूसरी ओर उसके अधिकारियों का भी शासन चलाने में उससे कम महत्त्व स्थान नहीं। राजा और राज्य अधिकारियों के चरित्रवान, निष्ठावान, कर्मण्य, उत्साही और न्यायप्रिय होने से प्रजा में भी वैसे ही भाव आते हैं। राजा अकेला सभी कार्य नहीं कर सकता।

अतः उसे कार्य संचालन हेतु अच्छे लोगों को रखना बहुत जरूरी है। अच्छे अधिकारियों के होने पर अनेक विभाग चलते हैं। राजा इन्हीं लोगों पर विश्वास कर इन्हें अधिकारी नियुक्त करता है।

3.6 राजा को राज्य की रक्षा किस प्रकार करनी चाहिए?

सर्वप्रथम साम, दाम और भेद नति के उपायों को न छोड़े। जब इन तीनों से काम न चले तब दण्ड का प्रयोग करे। यदि सुगमता से कार्य चल जाये तो किष्टप्रद मार्ग का बुद्धिमान व्यक्तियों को अनुसरण नहीं करना चाहिये।

राजशास्त्र के पंडित साम, दाम, भेद और दण्ड चार उपायों में राष्ट्र के अभ्युदय के लिए नित्य ही साम और दण्ड की ही प्रशंसा करते है।[18]

राजा को तन्मय होकर राज्य रक्षा के कार्य करने चाहिये। जिस प्रकार कृषक अपने खेतों की रक्षा करता हुआ अधुरी घास पात को जड़ से उखाड़कर फेंक देता है। उसी प्रकार अच्छा राजा विरोधी वर्ग को अपराधी देखकर उन्हें नष्ट कर दे। इस विषय में मनु ने अपने मानव धर्मशास्त्र में सुन्दर शब्दों में व्यवस्था दी है–

जिस प्रकार अच्छा कृषक धान के खेत में घास को काटकर धानों की रक्षा करता है। ठीक उसी प्रकार राजा भी अपने राष्ट की रक्षा करे और शत्रुओं का नाश करे।[19]

वस्तुतः राजा का मुख्य कार्य राष्ट्र की रक्षा करना है, किन्तु जो शासक प्रमादवश प्रजा की अवहेलना करता है, उसका सर्वस्व नष्ट हो जाता है। अतः राजा का मुख्य कार्य प्रजा की रक्षा करना है क्योंकि उससे नष्ट की रक्षा का भार अपने ऊपर लिया है। उसे कर्त्तव्य भ्रष्ट होकर औरों को भी आलसी और अकर्मण्य होने की प्रेरणा नहीं देनी चाहिए।

जिस प्रकार प्राणियों के प्राण शरीर के क्षीण होने पर नष्ट हो जाते है उसी प्रकार राष्ट्र का कर्षण (पीड़ा देने से) करने से राजाओं के प्राणी क्षीण हो जाते है।[20]

3.7 राष्ट्र की रक्षा करने से राजा को सुख प्राप्त होता है :

अच्छे राजा मानव धर्मशास्त्र के अनुसार प्रजा की रक्षा करके ही सुखी और उचित करने वाले होते हैं। अपनत्व खोकर ही राजा प्रजा के सुख का ही अपना सुख समझता है।

राष्ट्र के संग्रह (उन्नति) के लिए राजा नित्य उपायों को, क्योंकि अच्छी प्रकार राष्ट्र रक्षा करने के पश्चात् ही राजा सुखपूर्वक राज्य के सुख को भोगता है।[18]

प्रजा के सुख दुःखों की राजा को समस्ता प्रकार की सूचना होनी चाहिए और प्रजा को राज्य के सभी नियमों का पालन कराने में राज्याधिकारी पूर्ण योग दें, अतः ग्रामों में भी संगठन की सुन्दर व्यवस्था की गई थी। ग्राम प्रधान, ग्राम रक्षक की भी राज्य की ओर सु नियुक्ति होती थी। इस प्रकार की व्यवस्था से शासन संगठित, सुव्यवस्थित और अनुशासित रहता था।

प्रजा में राज्य के विरोधी तत्व उत्पन्न नहीं होते थे। राज्य की छोटी से छोटा इकाई का राजा को पूर्ण ज्ञान रहता था। प्राचीन भारतीय राजनैतिक विचारकों की इस प्रकार की सूक्ष्म निरीक्षण करने और राज्य की व्यवस्था के प्रति जागरूक होने के अनेक प्रमाण मिलते हैं।

3.8 ग्रामों में ग्राम रक्षक और प्रमुख की नियुक्ति :

राजा एक ग्राम का तथा दस ग्रामों का अधिपति नियुक्त करे और बीस–बीस सौ–सौ हजार–हजार ग्रामों का अधिपति (प्रमुख) नियुक्त करे।19

कई बार ग्रामों में लोगों के विभिन्न प्रकार के स्वभाव होने के कारण अनेक प्रकार की बुराईयाँ एवं बूरे लोगों का जन्म हो सकता है। ऐसी स्थिति में उनपर कैसे नियंत्रण पाया जाय? इसके लिए मनु ने सुन्दर व्यवस्था निर्धारित की है। आधुनिक युग के ग्रामीण संगठन के ग्रामीणशास्त्री भी आज ऐसी व्यवस्था न कर सके होंगे।

3.9 संगठन के समय छोटा ग्राम बड़े ग्रामों की सहायता से लाभ उठाए :

ग्राम में उत्पन्न हुए झगड़ों को सुगमता से हल न होने पर ग्रामीण (एक ग्राम का रक्षक) दस ग्राम रक्षक को दस ग्राम रक्षक बीस ग्राम, रक्षक को, बीस ग्राम सौ ग्राम रक्षक को, सौ ग्राम रक्षक हजार ग्राम रक्षक को इन झगड़ों की स्वयं सूचना दे।20

3.10 प्रजा के विरूद्ध कार्य करने वालों को दण्ड :

अच्छे शासक प्राचीनकाल में बूरे कार्य करने वालों को इतना कठोर दण्ड देते थे कि जिससे भविष्य में वे कोई प्रजा के हितों के विपरीत कार्य करने का साहस न कर सके।

राजा के जो पापचित वाले अधिकारी प्रजा से कार्य पड़ने पर धन ग्रहण करते हैं, राजा उनका सर्वस्व ग्रहणकर उन्हें अपने देश से निकाल दे।21

3.11 सेवकों की उचित पारिश्रमिक देने की व्यवस्था :

राज्य कार्य में लगे हुए स्त्री, पुरूष सेवकों के लिए प्रतिदिन काम के अनुरूप वृत्ति (वेतन) और कार्य करने का स्थान नियत करे।22 प्राचीन भारत में श्रमिक के श्रम का महत्त्व समझ कर उसे उसके कार्य के अनुसार धन दिया जाता था। राजा उसे राज्य के प्रति कर्त्तव्यनिष्ठ रखने एवं प्रत्येक नागरिक को रोजी–रोटी का ध्यान रखकर व्यवस्था करता था। जिससे नागरिकों में अभाव के कारण प्रतिक्रियाओं जाग्रत न हो और वे अच्छे नागरिक बन अनुशासित रहे।

3.12 कार्य के अनुरूप ही वेतन देने की माप व्यवस्था थी :

सामान्य कार्य करनेवाले शारीरिक श्रम करनेवाले लोगों को एक पण दैनिक तथा उससे उत्कृष्ट कार्य करनेवालों को 6 पण दिया जाता था। छः मास में एक जोड़ा कपड़ा तथा एक द्रोण (32 सेर वजन का माप दण्ड) धान्य राजा मासिक दे।23

राजा की ओर से सभी लोगों को उनकी शक्ति के अनुसार कार्य देकर उसी के अनुरूप पुरस्कार भी मिलता था एवं जीवनोपयोगी समस्त सामग्री प्रदान कर दी जाती थी।

कोई भी राजा अपने राज्य की बिना धन के सुव्यवस्था और सुरक्षा नहीं कर सकता। ऊपर के वर्णन में जिस प्रकार कहा गया है कि सेवकों और अच्छे काम करनेवालों को उनके कार्य के अनुसार वेतन और पुरस्कार देना चाहिए, यह क्यों? क्योंकि पदोन्नति और सम्मान प्राप्ति हेतु प्रत्येक नागरिक, प्रत्येक अधिकारी एवं सेवकवर्ग निष्ठावान बन के कार्य करेगा। अब देखना यह है कि वेतन और पुरस्कार के लिए धन कहाँ से आयेगा? उस धन की व्यवस्था राजा ही करता था कैसे करता था? 'कर' व्यवस्था के द्वारा।

व्यापारियों पर उनके सभी खर्चों को देखकर ही उनकी आय के अनुसार कर लगाये जाते थे। जिससे वे दुःखी होकर व्यापारिक कार्यों में उदासीनता न दिखाये या अनुत्साहित ही कामो को ही बन्द न कर दें। अतः राजा को आय के अनुकूल होकर लगाना चाहिए।

3.13 राजा का कर्त्तव्य क्या है?

युद्ध में भयभीत न होना, प्रजा का पालन करना और ब्राह्मणों की सेवा करना ही राजा का कल्याण कारक कर्त्तव्य है। (मनु 7188) जो चीजें अभी उपलब्ध नहीं हुई उन्हें प्राप्त करने की इच्छा करें तो प्राप्त हो चुकी है उनकी रक्षा का यत्न करें, सुरक्षित की वृद्धि करें एवं वृद्धि किये हुए धन को सत्पात्रों में वितरण करें (मनु 7.97)।

उद्योगी होने और उससे प्राप्त धन का वितरण करने पर अधिक बल दिया है।

3.14 राजा के इसके साथ ही और भी कर्त्तव्य माने गये हैं :

संग्राम से विमुख न होना, प्रजा का पालन करना और ब्राह्मणों (त्यागी जनों) की सेवा करना, यह राजाओं का परम कर्त्तव्य माना गया है?

शासन की ओर से नियुक्त कर्मचारी भी कई बार अपने स्वभाव के कारण प्रजा को पीड़ा देकर धन उपहरण करते हैं। अतः अच्छे शासक को इनसे भी प्रजा की रक्षा करनी चाहिये। जैसे–

प्रायः राजा के रक्षाधिकारी प्रजाजन के धन को हरण करने वाले होते हैं। राजा को उन (धूतों) शठों से प्रजा की रक्षा करनी चाहिये।

इस प्रकार के प्रजा शुभचिंतक, कर्त्तव्यपालक राजा से कौन अप्रसन्न होगा? प्राचीन भारतीय राजा जनता का रक्षक होता था न कि भक्षक, राजा प्रजा का पोषक होता था न कि शोषक। इस प्रकार के राजतंत्र से प्रजा कभी और क्यों विरूद्ध रही होगी।

प्रजा राजा के विरूद्ध तभी होती थी और होती है। जब वह स्वार्थ परायण और अपने कर्त्तव्यों से विमुख होने लगता है। विश्व के इतिहास की राज्य क्रान्तियाँ इस प्रकार की घटनाओं के ज्वलन्त उदाहरण है।

प्राचीन भारत में युद्ध भी होते थे किन्तु उनमें भी कुछ नियमबद्धता थी। उनका सभी पालन करते थे और राजा प्रजा के विनाश के लिए पुत्र नहीं करता था।

3.15 मंत्रिपरिषदा की सहायता :

मनु के अनुसार राजा को प्रशासन में मंत्रिपरिषद से सहायता लेनी चाहिए। मनु का कथन है कि दण्ड का प्रयोग अमात्यों द्वारा ही किया जाता है। अतः अमात्य ऐसे होने चाहिये जो शुचि, प्राज्ञ एवं सुपरीक्षित है।[24]

अन्नयापि प्रकृर्वति शुचीन् प्रज्ञावस्थितान्।

सम्यपर्थसमाहतुं नू अमात्यान् सुपरीक्षितान्।।

मंत्रियों की नियुक्ति के पूर्व उनके गुणों का उल्लेख करते हुए मनु ने कहा है कि[25]–

मोलच्छास्त्राविदः शुराल्लवधक्षान् कुलोदतातु।

सचिवानसप्तदाष्टोवाप्रकुर्वति परिक्षितान्।।

अर्थात् वंश परम्परागत नौकरी करते हो, शास्त्र को जानने वाले हो, अच्छे निशानेवाज हों, अच्छे कुल में उत्पन्न हो तथा परीक्षा में उर्त्तीण हो गये हों, इस प्रकार के सात या आठ मंत्रियों की नियुक्ति की जानी चाहिए। मनु ने आगे कहा है कि[26]–

तः सार्ध निस्तयेन्नित्यं सामान्य सन्निधविग्रहम्।

स्थान समुदय गुप्ति लब्धप्रशमनानि च।।

अर्थात्, इन मंत्रियों, के साथ संधि, विग्रह, राज्य की उन्नति तथा समृद्धि, देश की रक्षा आदि राजकीय विषयों का चिंतन किया जाय। इनसे पृथक–पृथक रूप से भी राय ली जाय तथा सम्मिलित रूप से भी।

मनु ने मंत्रिपरिषद् के निर्माण के विषय में अनेक सिद्धान्तों की पुष्टि की थी। मंत्रिपरिषद् के विषय में निम्नलिखित सिद्धान्तों को प्रयोग में लाया जाता था– परंपरागत सिद्धान्त, योग्यता सिद्धान्त, शूरता सिद्धान्त, परीक्षा सिद्धान्त तथा उद्देश्य प्राप्ति सिद्धान्त। 27

मंत्रीगण अपने कार्यो को सुचारू रूप से कर सकें, इसके लिए विभागीय पृथक्करण के सिद्धान्त को प्रयोग में लाया जाता था। जो मंत्री जिस कार्य में दक्ष होता था उसकी वही विभाग सौंपा जाता था।

मनु का कथन है कि राजा को समस्त कार्य मंत्रियों के परामर्श से निश्चित करना चाहिए। मनु ने राजदूतों का भी उल्लेख किया है तथा उनकी योग्यताओं का भी वर्णन किया है। कैसे व्यक्ति और कितने व्यक्ति अमात्य नियुक्त किये जायें?

निम्नलिखित गुणों वाले ही व्यक्तियों को अच्छे राजा अच्छा शासन चलाने के लिए नियुक्त करना चाहिये।

वंश परंपरानुगत, शास्त्रविद्, शूर, लक्ष्य भेद में दक्ष, अच्छे कुल में उत्पन्न एवं परीक्षा किये हुए सात अथवा आधा सचिवों को राजा नियुक्ति करे। 28 प्रशासन के कार्यो को सरलता और सुगमता से चलाने के लिए योग्य अधिक अधिकारियों, कर्मचारियों और कार्यकर्ताओं की आवश्यकता होती है।

कोई राजा कितना भी कुशल और शीर्ष कार्य करने वाला क्यों न हो किन्तु वह एकाकी समस्त कार्य भार वहन नहीं कर सकता और शासन के संगठन एवं उन्नति के लिए कार्य व्यग्र होने से चिंतनशील नहीं हो सकता।

कोई भी कार्य कितना ही सुगम क्यों न हो किन्तु एक व्यक्ति के लिए भी वह दुष्कर है फिर विरोध रूप से राज्य जैसे महान कार्य को करने के लिए असहाय एकाकी राजा कैसे समर्थ हो सकता है। राजनीतिशास्त्र के प्राचीन भारतीय विचारकों ने प्रशासन हेतु इसीलिए मंत्री आदि सहायकों की नियुक्ति आवश्यक और उपयोगी प्रमाणित की। राज्य के उत्थान के लिए अच्छा राजा उन अमात्यों के साथ संधि–विग्रह आदि गुणों, स्थान, समुदाय, अपनी और राज्य की रक्षा हेतु एवं प्राप्त साधनों के विषय में मंत्रणा (सलाह) करें। 29 जिन मंत्रियों की राजा नियुक्ति कर ले उनसे पृथक–पृथक मिलकर उनके राज्य हित संबंधी विचार सुने एवं सभी के परामर्शो को ध्यान में रखकर अपने को लाभ देने की कार्य करें।30

इस प्रकार मंत्रणा करने से राजा निकुंश होकर कार्य नहीं करेगा और राज्य एवं अपने लाभ के विचारों को बहुमत से स्वीकृत हुआ समझ विवेकपूर्ण पद्धति से कार्य करके स्वयं सुखी रहेगा और प्रजा को सुखी रखेगा। 31

3.16 मंत्रिमंडल में कितने और किस आधार पर मंत्री होते थे?

उन सात, आठ मंत्रियों में एक ब्राह्मण मंत्री की राजा नियुक्ति करे? सामाजिक व्यवस्था को महत्त्व देते हुए मनु ने कार्यो के अनुकूल त्यागमय जीवन व्यतीत करनेवाले विद्वान चिन्तनशील व्यक्तियों को मंत्रणा के कार्यो में महत्त्व दिया। जब मंत्रणा देनेवाले अच्छे होंगे तभी वह राजा को भी अच्छी मंत्रणा से कार्य करने की सलाह देंगे। ऐसे अच्छे विचारक मंत्री पर अच्छा राजा पूर्ण विश्वास कर कार्य सौंप दे।32

राज्य के कल्याण के लिए राजा को अच्छा मंत्रिमंडल नियुक्त करना चाहिये। बुद्धिमान, पवित्र हृदय, स्थिरमन, अच्छी प्रकार परीक्षा किये हुए लोगों को मंत्री बनाये। मंत्रणा के कार्यों पर अधिक बल देकर राज्य की सुरक्षा का मनु ने विशेष ध्यान रखा।

राज्य की सुरक्षा एवं सुव्यवस्था हेतु जिसने गुणी व्यक्तियों की आवश्यकता हो। कार्य के अनुकूल उत्साही आलस्य रहित और कार्यकुशल व्यक्तियों को ही राजा मंत्री नियुक्त करें। 33

इस प्रकार विश्वासी व्यक्तियों का जब मंत्रिमंडल में चयन होगा और उनकी योग्यता के अनुकूल उन्हें विभाग सौंपा जायेगा तो वे अपनी विशेषज्ञता से अच्छ कार्य कर राज्य को सम्पन्न एवं अपने विभाग को सुसंगठित कर निर्लोमी, कर्मठ और उत्साही कार्यकर्ताओं को तैयार करेंगे।

जिससे प्रजा वर्ग में शासन वर्ग को अच्छाइयां ही फले और शांत वातावरण में प्रजा उन्नति की ओर चले। शासन में मनु द्वारा वर्णित गुणों वाले लोगों की नियुक्ति से राजा और प्रजा निश्चिंत होकर ही राष्ट्र की उन्नति की ओर अग्रसारित हो सकेंगे।

आज के प्रशासन वर्ग में, ऊपर के अधिकारियों के चयन में इन बातों और इन गुणों का होना अनिवार्य कर दिया जाय तो प्रजा में अशांति एवं शासनवर्ग में अस्थिरता और अधिक शोषण या संग्रह को प्रवृति ही समाप्त हो जाय।

आधुनिक जनतांत्रिक मंत्रिमंडल और प्राचीन भारतीय विचारकों के (राजतंत्रात्मक) मंत्रिमंडल होने पर तुलनात्मक दृष्टिकोण से विचार किया जाय तो अवगत होता है कि उस समय चयन करती चार मंत्री की योग्यता, आचरण, रूचि, त्याग एवं कार्यक्षमता को प्राथमिकता दी जाती थी क्योंकि उनके ही हाथों में राष्ट के न्याय और कार्य का भारत होता था। उसके कार्यो के आचरण के बल पर ही वे वंशपरंपरागत रूप में भी चुने जाते थे एवं उनको अपने सम्मान, प्रतिष्ठा और पद का भी ध्यान रहता था। वे विद्वान्–बुद्धिमान, अनुभवी और व्यवहार कुशल थे। जिससे न जनता न राजा ही उनसे अप्रसन्न होते थे। 34

आधुनिक काल में सर्वत्र सभी देशों में धूर्तता की योग्यता, कपटपूर्ण कार्यो का अनुभव, धन जन एकत्रित करने की विद्या में सम्पन्न लोगों का ही चयन होता है जिसके कारण जनतंत्र प्रणाली सीधी, सभ्य जनता के जीवन को भयावह बनाती जा रही है। मंत्रियों को भी अपनपे मायावी कार्यो से यह निश्चय नहीं कि हम कितने दिन मंत्रीपद पर आसीन रह सकेंगे। यह कारण है कि वे अवसरवादी बनकर भले–बूरे मार्गो से धन एकत्र करने में लग जाते हैं और कर्तव्य प्रकट होकर अपने अनुयायियों एवं स्वयं स्वार्थसिद्ध होकर मनमाना कार्य करते है।

हमारे प्राचीन भारतीय विचारकों ने सर्वप्रथम राजा की शिक्षा दीक्षा पर ध्यान देकर उसे अच्छे विद्वानों, अनुभवियों के परामर्शो को सहायता देकर अच्छा मंत्रिमंडल बनाने का परामर्श दिया। शासक के अच्छा होने पर शेष सभी स्वयं अच्छे हो जाते हैं या अपनी बुराईयों के कारण पतनीन्मुख होकर पदच्युत हो जाते हैं।

अयोग्य मंत्रियों के चयन से प्रशासन में अयोग्य व्यक्तियों का प्रवेश होगा और वे केवल अपनी मूर्खता अपना और अपने वर्ग का लाभ करेंगे और जनता पीड़ित होकर जान हथेली पर रखकर शासन के विरूद्ध जन–आन्दोलन जगाकर क्रान्ति ला देगी। उस क्रान्ति का स्वरूप सर्वप्रथम विचारों की क्रान्ति होगा और तत्पश्चात असह्य होने पर या वर्ग विशेष की लाभान्वित, सुखी देखकर रक्त रंजित क्रान्ति फैलने का भय होगा। इन सभी बातों का मनु जैसे प्राचीन भारतीय राजनैतिक विचार जानते थे। अतः मनु ने सुशासन को स्थापना हेतु अच्छे मार्गो का चयन किया। उसी सुचयन का फल था कि प्राचीन भारतीय शासन व्यवस्था सुव्यवस्थित, सुदृढ़ नियमित और संयमित थी।

प्राचीन भारतीय राजनैतिक विचारकों ने अपने चिंतन से इस प्रकार की समस्याओं का समाधान अच्छे कुशल राजा के माध्यम से योग्य व्यक्तियों की नियुक्ति कर योग्यता और कार्यक्षमता के आधार पर महत्त्व देकर परीक्षित (परीक्षा किये हुए) व्यक्तियों को ही शासन की व्यवस्था चलाने का कार्यभार सौंपा।

प्रायः देखा जाता है कि चिंतनशील, लगनशील, कर्मठ और दृढ़नियमों व्यक्तियों के रहते हुए बुरे लोग ऐसे शासन में प्रवेश नहीं कर सकते। शासक के प्रमादी होने पर ही चाटुकारों को उसके निकट पहुँचने का अवसर मिलता है। ऐसे लोग अपनी मधुर शब्दावली से उन्हें आकर्षित कर अपना प्रभाव जमा मन चाहा काम करा लेते हैं। राजनीतिज्ञों ने ऐसे अकर्मण्य, मयावी लोगों को प्रशासन में स्थान नहीं दिया है।

3.17 मंत्रियों का कार्य विभाजन किस प्रकार हो?

मंत्रिमंडल की स्थापना हो जाने के पश्चात् राजा को उन मंत्रियों में से ही शक्तिसम्पन्न, चतुर, अच्छे कुल मे उत्पन्न, पवित्र हृदय वालों को उत्तरदायित्व पूर्ण धन धान्य एकत्र करनेवाले स्थानों में और भीरूओं को अंतपुर के गृह्यबंध में नियुक्त करना चाहिये।35

प्राचीनकाल में योग्यता के अनुरूप ही कार्य दिया जाता था।

मंत्रियों की नियुक्ति, कार्य विभाजन करने, शासन को दृढ़ और सुव्यवस्थित किये जाने के पश्चात् अन्य राज्यों से भी अपना संबंध स्थापित करने के विषय में मनु ने अपने मानव धर्मशास्त्र में राजदूत की नियुक्ति भी मंत्रियों की भाँति आवश्यक मानी है।

3.18 कैसे व्यक्तियों को दूत बनाना चाहिये?

सब शास्त्रों में विशारद (चतुर) समस्त प्रकार के इंगित (संकेत) से, वाणी के द्वारा मन के भावों, को, आकार, चेष्टा (क्रियाओं द्वारा) दूसरे की वृतियों को जाननेवाला, पवित्र, दक्ष और कुलीन दूत को ही नियुक्त करे।36

जिस व्यक्ति में दूसरे के भावों को, वाणी की क्रिया को, शबल देखकर ही भापने वाला, चेष्टाओं से ही मनःस्थिति को जानने वाला, कुशल व्यक्ति को दूत का कार्य करने योग्य हो सकता है।

प्रायः देखा जाता है कि संकट में पड़ने पर प्रत्येक व्यक्ति सभी कार्य को करने के लिए तैयार हो जाता है किन्तु ऐसा व्यक्ति विशेषज्ञ होने पर ही अपने कार्यो द्वारा ही वैचित्य दिखा सकता है।

उसी प्रकार प्राचीन भारतीय राजशास्त्रियों में उत्तरदायित्वपूर्ण स्थानों पर विश्वस्त, विशेषज्ञ और कर्त्तव्यनिष्ठ व्यक्तियों को ही नियुक्ति मान्य ठहरायी है।

3.19 राजदूत किसे कहते हैं और उसके क्या लक्षण है?

कैसा व्यक्ति राजदूत होने योग्य है? उस पर मनु ने अपने विचार इस प्रकार व्यक्त किये है–

अनुरक्त (कार्यप्रिय), शुद्ध आचरण वाला, दक्ष, स्मृति–युक्त, देशकाल का ज्ञाता, स्वस्थ शरीरवाला, निर्भिक एवं वाक्पट, व्यक्ति ही राजदूत होने योग्य है।37

इन गुणों के साथ ही साथ राजदूत में कुछ और भी आवश्यक गुण होने चाहिये–

संधि, विग्रह का ज्ञाता, समय के अनुकूल कार्य करनेवाला, सामर्थ्यवान, भविष्य को जाननेवाला, धर्म, अर्थ तथा काम द्वारा भी प्रलोभन दिये जाने पर भी शत्रु के द्वारा जो वश में न हो और दृढ़ निश्चयी हो। ऐसा व्यक्ति राजदूत के योग्य है।

अपने मत को युक्तियों के द्वारा पुष्ट करने के लिए सर्वशास्त्रों को जानता हो मन में अर्थ के कारण प्रलोभन न आये। अतः उचित वेतन भोगी हो, राज्य की कोश वृद्धि में निपुण हो इन गुणों वाला व्यक्ति ही राजदूत हो सकता है।

आय–व्यय कार्य में कुशल, गणितज्ञ, लालच रहित, धर्मबुद्धि और सभी कार्य और आर्य का विचारक व्यक्ति ही दूत बनने के योग्य है।

राजनीतिशास्त्र में दूत का अत्यधिक महत्त्व बताया गया है। मनु के मानवशास्त्र का अध्ययन करने से विदित होता है कि उस युग में राजदूत को बड़ी अच्छी दृष्टि से देखा जाता था। दूत का पद सम्मानित, दायित्वपूर्ण और राज्य के लिए बड़े महत्त्व का था। मनु ने दुत की प्रशंसा इस प्रकार की है–

दूत ही संधि करा देता है और विग्रह भी करा देता है, दूत ऐसे भी कार्य करा देता है जिससे मानवों में द्वेष हो जाता है।38

राजदूतों का आज के युग में भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। प्राचीन भारतीय राजनैतिक विचारों के विचारों से प्रभावित होकर आधुनिक राजशास्त्रियों ने उनकी योग्यता एवं कार्यो में प्राचीनों का अनुकरण तो किा ही है साथ ही समय के अनुसार कुछ सुधार कर उनकी सुख सुविधाओं का ध्यान रखा है।

राजा, अमात्य का राज्य शासन में जैसा स्थान है ठीक वैसा ही स्थान दूत का भी है–

अमात्य के अधीन दण्ड है और दण्ड के अधीन विनय के कार्य है। राजा के अधीन कोष और राष्ट्र की ओर दूत के अधीन संधि, विग्रह आदि 6 गुण हैं।39

राजतंत्र प्रणाली में जहाँ राजा का महत्त्व दिया गया है वहाँ उसकी सुरक्षा आदि का भी सम्यग ध्यान रखा जाता था।

ISBN: 978-81-19149-32-2

अध्याय 4

न्याय, दंड, कोष एवं अन्य राजकीय कार्य

4.1 न्याय व्यवस्था :

मनु के कानून तथा न्याय का भी उल्लेख किया है। उनके अनुसार[1]–

बेदौऽखिलोधर्म मूलस्मृत्यशील च तद्विदाम्।

आचारश्चैव साधनां आत्मनस्तृष्टिरेव च।।

अर्थात् वेद, स्मृति, शिष्ट पुरूषों के आचार तथा आत्म–तुष्टि ये विधि के आधार है। मनु के व्यवहार के अट्ठारह मार्ग बतलाए हैं। मनु ने न्याय हेतु एक सभा का उल्लेख किया है जो धर्मसभा कहलाती थी। धर्माध्यक्ष का पद राजा ग्रहण करता था। राजा की अनुपस्थिति में कोई ब्राह्मण इस पद पर आसीन किया जाता था। इस धर्म सभा में राजा। ब्राह्मणों के परामर्श से न्याय करता था। मनु के अनुसार मनुष्यों के जो विविध विषय हों, उनका निर्णय शाश्वत धर्म का आश्रय लेकर किया जाना चाहिए। जिस न्यायालय में अधर्म द्वारा धर्म का भेदन होता है तथा धर्म का भेदन करने वाले अधर्म रूपी बाण को न्यायाधीश नहीं निकाल पाते तो वे स्वयं ही अधर्म द्वारा वेध दिये जाते हैं। मनु का कथन है कि किसी व्यक्ति को सभासद (न्यायाधीश) बनने के लिए यह आवश्यक है कि वह विचारपूर्वक अपनी सहमति को प्रकट करे। अपनी सम्पत्ति न प्रकट करने वाला पाप का भागी होता है, सभासद को धर्म का कभी लोभ न होने देना चाहिये। मुख्य न्यायाधीश के पद को मनु ने 'धर्मासन' के नाम से पुकारा है। इस पद पर बैठनेवाले व्यक्ति को निश्पक्ष होना चाहिये।

4.2 प्रमाणों की आवश्यकता :

मनु ने न्याय में प्रमाणों को बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। उनका कथन है कि न्यायधीश को न्याय करते समय प्रमाणों पर ध्यान देना चाहिए तथा उनके आधार पर निर्णय करना चाहिए। विवादग्रस्त विषयों का परिज्ञान प्रमाणों के द्वारा ही धर्म हो सकता है। मानव–धर्म–शास्त्र ने प्रमाणों को दो वर्गो में विभक्त किया है– मानुष प्रमाण जिसे तीन कोटियों में बाँटा गया है–लिखित, मुक्ति तथा साक्ष्य प्रमाण।

दूसरा है दिव्य प्रमाण। मनु ने लिखित प्रमाणों पर अधिक जोर दिया है। दूसरे स्थान है साक्षी प्रमाण का, जिसके अन्तर्गत आँखों देखा हाल आता है। मनु ने निम्नलिखित व्यक्तियों को साक्ष्य को अयोग्य माना है– असत्य बोलने वाले, सेवक, शत्रु, संन्यासी, कोढ़ी आदि।

मिथ्या साक्षी को दण्ड प्रदान करने की व्यवस्था मनु ने की है। न्याय करते समय देशकाल तथा परम्पराओं को महत्त्व प्रदान करना चाहिये।

4.3 राजा का विधि के अधीन होना :

प्राचीन काल में विध का इतना महत्त्व था कि राजा को भी उसके अधीन माना गया है। मनुस्मृति में कहा गया है कि[2]–

कादपिणं भवेद दण्डयो यात्रान्य प्राकृतो जनः।

सब राजा भवेद् दण्डयो सहस्त्रामिति धारणा।।

अर्थात् जिस अपराध हेतु सामान्य मनुष्य को एक कार्यापण का दण्ड प्रदान किया जाय, उसी अपराध के लिए राजा को एक सहस्त्र कार्यापणों का दण्ड प्रदान किया जाना चाहिए।

4.4 न्यायालयों में प्रस्तुत होनेवाले अभियोग :

मनु ने न्यायालयों में प्रस्तुत होनेवाले अभियोग के 18 वर्ग बतलाये हैं– अनदान, निक्षेप, अस्वाभि विक्रय, सन्यभूयसनुत्थानम्, दत्तस्यानपाकर्म, वेतन का न देना, संविदा का भोग किया जाना, क्रय–विक्रयानुशय, स्वामी तथा भृत्य के झगड़े, सीमा विवाद, दझऽयरूप्यम्, स्तेय, साहसम्, स्त्री संग्रहण, स्त्री–पुरूष संबंध, दायभाग, पारूष्यम् तथा द्यूत।3

राजा के लिए दो वस्तुओं का ज्ञान मनु ने आवश्यक ठहराया है– धर्म तथा दण्ड इनके ज्ञान के अभाव में राजा अपनी प्रतिष्ठा का उचित रूप से मूल्यांकन नहीं कर सकता। राजा का प्रमुख कर्त्तव्य धर्म की स्थापना तथा उसके उल्लंघन के लिए दण्ड की व्यवस्था करना है। दण्ड के बिना धर्म स्थापित नहीं हो सकता। दण्ड के फलस्वरूप ही लोग उन कार्यो को नहीं करते, जो दंडनीय होते हैं। मनुस्मृति के अनुसार राजा की सहायतार्थ ईश्वर ने राजा के लिए दो वस्तुओं का ज्ञान मनु ने आवश्यक ठहराया है–धर्म तथा दण्ड इनके ज्ञान के अभाव में राजा अपनी प्रतिष्ठा का उचित रूप से मूल्यांकन नहीं कर सकता।

राजा का प्रमुख कर्त्तव्य धर्म की स्थापना तथा उसके उल्लंघन के लिए दण्ड की व्यवस्था करना है। दण्ड के बिना धर्म स्थापित नहीं हो सकता। दण्ड के फलस्वरूप ही लोग उन कार्यों को नहीं करते, जो दण्डनीय होते हैं। मनुस्मृति के अनुसार राजा ही सहायतार्थ ईश्वर ने राजा के जन्म के पूर्व ही जिन आत्मा से दण्ड को उत्पन्न किया है। इसी दण्ड पर सब कुछ अवलम्बित है। इसी दण्ड के भय से चराचर प्राणी मात्र अपने धर्म से नहीं डिगते। इसलिए देश, काल, शक्ति एवं विद्या का विचार करके राजा को अत्याचारियों के दमन के लिए दण्ड का उपयोग करना चाहिए। दण्ड ही वस्तुत राजा है, वही नेता है, वही पुरूष है तथा मनुष्य के चारों आश्रमों का ठीक रखने वाला धर्म का प्रतिभू है। दण्ड ही सारी प्रजा को आज्ञा प्रदान करता है तथा वहीं रक्षा करता है। जब दण्ड भली प्रकार समझ–बूझकर ग्रहण किया जाता है, जब्र प्रजा में प्रसन्नता होती है। किन्तु जब बिना विचार के ही दण्ड का उपयोग किया जाता है, तब सर्वनाश होता है। जहाँ श्यामवर्ण का, रक्तनेत्र वाला, पाप का नाशक दण्ड विचरण करता है वहाँ प्रजा व्याकुल नहीं होती। दण्ड ही महत्त्व है जिसका उपयोग करना नीतिशास्त्र से अनभिज्ञ मनुष्य के लिए कठिन है क्योंकि यह धर्म–विचलित राजा को भी बन्धुओं समेत मार डालता है।[4]

स राजा पुरूषों दण्डः स नेता शासिता च सः।

चतुगामिश्रमाणां च धर्मस्य प्रतिभूः स्मृतिः।।

(मनुस्मृति अध्याय–7, श्लोक–17)

वह दण्ड ही राजा है, वह दण्ड ही पुरूष है, वह दण्ड ही नेता है, वही दण्ड शासक के योग्य है और वह दण्ड ही चारों आश्रमों के धर्म का मध्यस्थ है।

4.5 दण्ड की महत्ता :

दण्ड की महत्ता का उल्लेख करने के अनन्तर मनु ने बतलाया है कि दण्ड का प्रयोग इस प्रकार किया जाना चाहिये जिससे सम्पूर्ण जगत का कल्याण हो। मनु ने कहा है कि राजा को यह देखना चाहिऐ कि दण्ड–अधिकारी अपने कार्यो को न्यायपूर्वक कर रहे हैं या नहीं।

उसका कथन है कि दण्ड की महत्ता के फलस्वरूप राजा की आवश्यकता पड़ी कि एक ऐसा व्यक्ति हो जो इस पर नियंत्रण करे की दण्ड का प्रयोग उचित प्रकार हो रहा है अथवा नहीं मनु ने कहा है कि[5]–

शुचिता सत्यमन्धेन यथाशास्त्रानुसारिण।

प्रणेतु शक्यत्ते दण्डः सुसहायेन धीमता।।

अर्थात् दण्ड को धारणा करनेवाला व्यक्ति पवित्र, सत्य–प्रतिज्ञ, शास्त्रोचित आचरण करनेवाला होना चाहिये।

राजा के अन्य कर्त्तव्यों का उल्लेख करते हुए उसने कहा है कि राजा को विद्वानों का अदर करना चाहिये। उसे प्रतिदिन प्रातःकाल वेदों का श्रवण करना चाहिये। विद्वानों द्वारा दी गयी शिक्षाओं को व्यावहारिक जीवन में प्रयोग करना चाहिये।

4.6 राजधर्म को चलाने में दण्ड को प्रमुख स्थान क्यों दिया गया है?

राज्य व्यवस्था एवं जगत के व्यवहार को चलाने के लिए चार प्रकार की नीति निर्धारित की गई है–1, साम, 2. दान, 3. भेद, 4. दण्ड। जगत में लोग दण्ड के भय से ही भयभीत हो शांतिपूर्वक कार्य करते है।

अपने–अपने कार्यो को सभी नियमित रूप से करते रहें और उसका फल भोग सकें। इसीलिए दण्ड को राजधर्म चलाने में प्रमुख स्थान दिया गया है। मनु ने भी कहा है–

उस दण्ड के भय से चर और अचर सभी प्राणी अपने उपार्जित धन का उपयोग करते हुए अपने नियम से विचलित नहीं होते।6

दण्ड का महत्त्व बताते हुए, दण्ड के द्वारा समस्त कार्य सिद्ध हो जाते हैं। दण्ड के भय से प्रजा दुष्कर्मो की और प्रवृत नहीं होती। इस पर मनु के विचार इस प्रकार है–

दण्ड ही सभी प्राणियों पर शासन करता है, दण्ड ही प्रजा जन की रक्षा करता है। दण्ड सम्पूर्ण प्रजा के सोने पर भी जागता रहता है। बुद्धिमान् जन दण्ड को ही धर्म का कारण मानते हैं।7

4.7 अपराधियों को दण्ड न देने से राज्य में कैसी अव्यवस्था हो जाती है?

इस अधोलिखित उद्धरण में मनु ने सटीक वर्णन किया है–

यदि राजा प्रसाद को छोड़कर अपराधियों को दण्ड नहीं देता तो शक्तिशाली लोग दुर्बलों को इस प्रकार पकाते हैं कि जैसे लोग मछलियों को लोहे की छड़ में पकाते हैं।8

4.8 दण्ड का प्रयोग करनेवाले राजा को कैसा होना चाहिये?

न्यायप्रिय और दण्ड को महत्त्व देनेवाले राजा को सच बोलनेवाला, विचारक, बुद्धि सम्पन्न और धर्म, अर्थ एवं काम का ज्ञाता होना चाहिए।9 ऐसा मनु महाराज का विचार है।

आचरण भ्रष्टएवं व्यसनी व्यक्ति दण्ड का कभी भी प्रयोग नहीं कर सकता और यदि करता भी है तो उस दण्ड के द्वारा स्वयं ही मारा जाता है। अतः आयोग्य व्यक्ति न राजा होने योग्य है और न दण्ड धारा के ही योग्य है। जैसा कि मनु ने इस विषय में अपने विचार स्पष्ट किये हैः–

दण्ड का अच्छी प्रकार व्यवहार करता हुआ राजा धर्म, अर्थ और काम त्रिवर्ग से युक्त होता है। विषयासक्त, क्रोधी, शुद्र राजा दण्ड के राजा ही माना जाता है।10

दण्ड का अच्छी प्रकार प्रयोग करनेवाला राजा सदा अच्छे लोगों से सम्मान पायेगा और अच्छी व्यवस्था चाहने वाले व्यक्ति निष्पक्ष, न्यायप्रिय राजा को पूर्ण सहयोग देंगे। बुरी व्यवस्था अपने पर या राजा के बुरे होने पर ही बुरे लोगों को शासन में हस्तक्षेप करने का अवसर मिलता है।

4.9 दण्ड का प्रयोग निम्नलिखित गुगों को रखनेवाला शासक ही कर सकता है :

लोभ ही (पवित्र) प्रतिज्ञा का सच्चा, शास्त्र के अनुसार आचरण करने वाला, अच्छे सहायकों से युक्त, बुद्धिमान, शासक के द्वारा ही दण्ड का वास्तविक प्रयोग हो सकता है।11

प्रजावर्ग में शांति स्थापिक करना, दुष्टों, अन्यायियों से भले लोगों के जान माल की रक्षा करना अच्छे शासक का परमधर्म है।

सभी को अपने–अपने कामों में लगाये रखना ही राजा का कर्तव्य है जैसा कि मनु ने कहा है– वस्तुतः राजा को किस कार्य को करने के लिए बनाया गया है?

4.10 कर का कोष :

राजा को अपने कार्यो का सम्पादन करने के लिए धन की आवश्यकता होती है। धन की प्राप्ति राजाा अने करों से करता है। मनु ने भी कोष को राज्य का आधार माना है।

उन्होंने राज्य की सत प्रकृतियों में कोष का भी सम्मिलित किया है। राजा को अधिक कर नहीं लगाने चाहिए क्योंकि उससे प्रजा का शोषण होता है। जो राजा अपने राष्ट्र का शोषण करता है उसका नाश उसके बंधु–बान्धवों सहित अतिशीघ्र हो जाता है। राजा को अपने विश्वस्तजनों से ही राष्ट्र से 'कर' प्राप्त करना चाहिए। कर लेने में आय और प्रजा से हित का व्यवहार करें।12

4.10.1 करों के प्रकार :

मनु ने निम्नलिखित मुख्य करों का उल्लेख किया है– भूमिकर, शुल्क, दंड से प्राप्त आय, नदी, नावों, नालों इत्यादि पर कर, पशुओं पर कर, श्रमजीवी तथा शिल्पियों पर कर। भूमि की मात्रा मनु ने पैदावार का छठा, आठवां एवं बारहवां भाग निश्चित की है। बिक्री कर मनु ने इस प्रकार निश्चित किया है–

जानवर तथा सोने पर पाँचवां भाग, धान्य पर आठवां भाग, मनुध, घी, सुगन्धित, औषधि, रस, पुरूष, मूल, फल, खल, मिट्टी के बर्तन तथा पत्थर से बनी वस्तुओं पर छठा भाग।

कोई भी राज्य बिना आय के अपने कार्यो को नहीं चला सकता। आयकर मुख्य साधन 'कर' ही है। आय के बल पर ही प्रजा की सुव्यवस्था के लिए अच्छे अधिकारियों का चयन हो सकता है और सुरक्षा के लिए अच्छी सेना संगठित हो सकती है।

'कर' संग्रह में राजा को बल का प्रयोग एवं अन्याय का सहारा नहीं लेना चाहिये यह मनु का विचार है। प्रजाजन के हितों का ध्यान रखते हुए न्यायपूर्वक ही जनता से 'कर' ग्रहण करे। पर ग्रहण करने में भी कठोरता का व्यवहार और 'कर' के धन का दुरूपयोग न हो। अतः अच्छे राजा को अपने योग्य, अनुभवी और विश्वासी व्यक्तियों के द्वारा ही इस उत्तरदायित्व पूर्ण कार्य का सम्पादन करना चाहिये। इस प्रकार के प्रसंगों से मनु के समय की सुन्दर शासन व्यवस्था का परिचय मिलता है और प्राचीन भारतीयों को राज्य शासन पद्धति का पूर्ण ज्ञान एवं विचार परम्परा का बोध होता है। प्राचीन भारतीयों की अपनी एक चिंतनशैली, कार्यपद्धति और शासन व्यवस्था थी। जिस प्रजा पर शासन करना है सर्वप्रथम उसके सुख–दुःखों का पर्यवेक्षण करना नितान्त आवश्यक है। वस्तुतः अपनी आर्थिक स्थिति के अनुकूल वह राजा को अथ दे भी सकती है या नहीं। इन सत्य तथ्यों को राजा के ईमानदार अधिकारी ही जान सकेंगे।

4.11 अर्न्तराज्य संबंध :

अन्य राज्यों से किस प्रकार का संबंध होना चाहिए, इसका उल्लेख भी मनु ने किया है। उनके अनुसार अन्य राज्यों के प्रति नीति के ये अंग है– आसन, यान, संधि, विग्रह, द्वधोभाव तथा संश्रय।13

आसनं चैत्र यानं च संधि विग्रहमेव च।

काम बीक्ष्य प्रयुज्जीत द्वध सश्रयमेव च।।

उपरोक्त षड्गुण्य मंत्र का उल्लेख कौटिल्य ने भी किया है। मनु ने युद्ध को उचित माना है। यदि आवश्यकता हो तो युद्ध अवश्य किया जाना चाहिए। किन्तु जो युद्ध किया जाय वह धर्मानुकूल होना चाहिये। युद्ध का ढ़ंग, व्यूह–रचना का ढ़ंग आदिद विषयों का भी उल्लेख मनु ने किया है। उनका कथन है कि शत्रु के प्रति किसी भी प्रकार की दया न की जानी चाहिये।

शत्रु राष्ट्र को अच्छी तरह पीड़ित कर दिया जाय तथा उसके अन्न, जल व ईंधन तक को दूषित कर दिया जाय। किन्तु पराजित राज्य के राजवंश का मूलोच्छेद मनु नहीं चाहते थे। मनु का कथन है कि पराजित राजवंश के किसी व्यक्ति को गद्दी पर बिठाकर उसके साथ संधि कर लेनी चाहिए।

4.12 आयु के अनुरूप ही कर लिए जाते थे :

फल के अनुसार ही राजा अपने रक्षा, सेवा आदि कार्य के अनुसार ही सदा निश्चय कर राष्ट्र पर कर लगाये।14

नागरिक जो कार्य करें उसके फल में जो आय हो और राजा उनके कार्य में जो सुरक्षा की सहायता करे उसके अनुपात से अपनी प्रजा पर कर लगावे। इन करों से प्राप्त आय के द्वारा ही शासक अपने समस्त खर्चो को चलाता था। अपने राष्ट्र की आरय को दृष्टि में रखते हुए वे शासक सर्वप्रथम राष्ट्र रक्षा का कार्यों पर और अत्यन्त आवश्यक कार्यो पर उस धन को व्यय करते थे। राजा अपनी व्यक्तिगत आवश्यकताओं की पूर्ति पर भी संयमित और मितव्ययता से व्यय करता था। उसका जीवन अनुकरणीय होता था। अतः उसके कार्यों के विरूद्ध प्रजा को कुछ करते और सोचने की जरूरत ही न पड़ती थी।

कर न लेने पर भी राजा की हानि और अधिक कर लेने पर भी राजा की हानि है वह क्यों?

दूसरों से अधिक लालच करके धन का शोषण करना अनुचित माना गया है, क्योंकि प्रजा को कष्ट देने से राजा का राज्य ही नष्ट नहीं होता अपितु उसकी अपहरण की नीति से उसका भी विनाश अवश्यंभावी है। अतः अच्छे राजाओं को इस प्रकार के व्यवहारों से बचने के लिए मानव धर्म शास्त्र निर्माता मनु ने अपनी व्यवस्था इस प्रकार दी है–

अति तृष्णा के कारण राजा को अपने मूल को एवं प्रजा के मूल को नष्ट नहीं करना चाहिये। अपना अहित और प्रजा का मूल काटकर वह प्रजा को पीड़ा देता है।15

जिस प्रकार मंत्री का शासन के चलाने में मुख्य स्थान है। उसी प्रकार राज्य की सुरक्षा और राष्ट्र की उन्नति के लिए मंत्रणा करना भी परमावश्यक है। मंत्रणा के बल पर ही शासक अत्यन्त गोपनीय कार्यों को, राष्ट्र की संकटपूर्ण समस्याओं को, देश के प्रतिभा सम्पन्न, बुद्धिमान, प्रत्युत्न्नमति और अनुभवी मंत्रियों को मंत्रणा से सुगमता' से हल कर लेता था।

गुप्त मंत्रणा का भी एक महत्त्वपूर्ण स्थान था। राजा गुप्त स्थानों, जनशून्य एवं पशुपक्षियों से रहित स्थान पर ये गुप्त परामर्श और समस्याओं का समाधान करता था। इसी बल पर राजा और मंत्रियों की गुप्त' ये मंत्रणायें सुरक्षित एवं सुव्यवस्थित रूप से चलती थी।

जहाँ मूर्ख, मूक, बहरे, पक्षी तोता, मैना न हों ऐसे स्थानों पर गुप्त मंत्रणा का प्रवस्त्र होना चाहिये।

4.13 दुर्ग रचना :

मनु अत्यन्त सूक्ष्मदर्शी विचारक थे। उन्होंने राज्य से संबंधित प्रत्येक छोटे–बड़े विषयों का उल्लेख मनुस्मृति में किया है। उन्होंने दुर्ग की रचना पर भी अपने विचार दिए हैं। उनके अनुसार दुर्ग ऐसे स्थान पर होना चाहिए, जहाँ वन, घास, जल तथा धान्य हो। स्थान ऐसा होना चाहिये जहाँ शत्रु सुगमतापूर्वक आक्रमण न कर सके।

हमारा प्राचीन भारतीय राजनैतिक विचारक मनु राजनीति के सुक्ष्म से सुक्ष्म पहलुओं पर विचार कर प्राचीन भारतीय चिंतन का स्वरूप दिखाते हैं। राजा की सुरक्षा भी परमावश्यक है। अतः उसके लिए दुर्गों का महत्त्व मनु ने वर्णन किया है।

दुर्ग कितने प्रकार के होते हैं? दुर्ग 6 प्रकार के होते हैं। 1. धनवदुर्ग, 2. महीदुर्ग, 3. जलदुर्ग, 4. वृक्षदुर्ग, 5. मनुष्य दुर्ग और 6. गिरिदुर्ग, उनका आश्रय लेकर राजा अपने गुरु में निवास करें।[16]

प्राचीन काल में दुर्गा का अधिक प्रचलन और सुरक्षा के लिए महत्त्वपूर्ण स्थान था। आवश्यकता और विज्ञान की उन्नति के साथ ही साथ सुरक्षा के साधनों में भी परिवर्तन होता रहा है और भविष्य में होता रहेगा। राज्य के संचालक में राजा की सुरक्षा होगी तो वह स्वस्थ परम्पराओं में रहकर राज्य की उन्नति सुरक्षा और जीवनोपयोगी आवश्यक सामग्रियों को एकत्रित करेगा।

प्रायः स्वयं सम्पन्न और सुखी होने के पश्चात् ही साधारण व्यक्ति दूसरों की भी सेवा और रक्षा कर सकता है फिर राजा को तो बात ही क्या क्यों उसके ऊपर सभी की सुरक्षा का भार है। उसे सर्वप्रथम अपनी सुरक्षा का उपाय सोचना है। अतः प्राचीन विचारकों ने राजतंत्र की व्यवस्था में राजा की सत्ता की प्रमुख मानकर राजा की सुरक्षा पर भी बल दिया है। शक्ति सम्पन्न शासक ही प्रजा का सच्चा रक्षक हो सकता है।

शत्रु से पराजित न होने और सुरक्षित रहने के लिए 6 प्रकार के दुर्गों का मानव धर्मशास्त्र में वर्णन किया गया है। राजा और राज्य की रक्षा के लिए राजा प्राचीन भारतीय विचारकों ने अनेक प्रबन्धों से सुरक्षित किया हुआ था।

4.13.1 दुर्ग निर्माण से क्या लाभ थे :

जिस प्रकार गुफा रूपी दुर्गों के आश्रय में रहते हुए जीवों को हिंसक शिकारी नहीं मार सकते। ठीक उसी प्रकार दुर्ग का आश्रय लेते हुए राजा को शत्रु भी नहीं मार सके।17

प्राचीन भारतीय विचारक मनु के विचारों से प्रभावित होकर मुस्लिम राज्य एवं अंग्रेजी राज्य अपने देशों पर परतंत्र भारत में प्राचीन परंपराओं का अनुसरण करते हुए अपनी–अपनी सेना और अपने साम्राज्य की सुरक्षा के हेतु गढ़ दुर्ग बनाते रहे। जिसकी स्मृति और अवशेष आज भी भारतीय पूरातत्व विभाग की विशेष व्यवस्था द्वारा सुरक्षित है।

प्राचीन भारतीय राजनीति के साथ तुलनात्मक अध्ययन करके देखा जाय तो यह पाश्चात्य राजनीति के पोप को स्वीकार करना पड़ेगा कि हमारे प्राचीन विचारकों के वे भी ऋणी हैं।

4.13.2 दुर्ग की शक्ति का महत्त्व :

दुर्ग में रहनेवाला एक धनुषधारी योद्धा 100 योद्धाओं से एकाकी युद्ध करता है और दुर्ग में स्थित योद्धा हजार शव योद्धाओं से लड़ते हैं। अतः राजशास्त्रियों ने दुर्ग का अत्यधिक महत्त्व बताया है। 18

दुर्ग का महत्त्व बताते हुए मनु ने यह भी बताया है कि दुर्ग की कितनी बड़ी शक्ति थी कि अकेला दुर्ग में बैठा सैनिक सैकड़ों को दुर्ग के बल से पराजित कर देता है। अधिक शत्रु पक्षवालों को दुर्ग में निवास करते हुए योद्धा दस गुनी शत्रु सेना को मौत के घाट उतार सकते हैं।

अधिक दिन तक शक्तिशाली शत्रु सेना से लड़ने के लिए दुर्ग में अधिक दतन बैठना संभव नहीं। अतः इस पर मनु ने अधिक दिन तक सुखपूर्वक लड़ने के लिए भी युक्ति बतायी है। दुर्ग बहुत बड़े बनाये जाते थे।

जिनमें आधुनिक युग के छोटे–मोटे शहर आ जाते थे। उस दुर्ग ने सैनिकों और अन्य निवासियों के लिए उनकी जीवनोपयोगी सभी प्रकार की सामग्री प्रचूर मात्रा में एकत्रित की जाती थी।

4.13.3 दुर्ग में समस्त प्रकार की चीजें होती थी :

उस दुर्ग को अस्त्र शास्त्रों से भर दिया जाता था, धन धान्य (खाद्य सामग्री) और वाहनों ने, ब्राह्मणों से, शिल्पियों से, यंत्रों से, पशुओं के खाद्य पदार्थो से और जल से परिपूर्ण रखा जाता था।19

4.13.4 दुर्ग के मध्य में राजप्रसाद आदि होते थे :

उस दुर्ग के मध्य में राजा अपना निवास स्थान बनाये। वह स्थान कैसा होना चाहिये? जो गुप्त रूप से सब ऋतुओं के अनुरूप स्वच्छ जल और वृक्षों से युक्त होना चाहिये।20

कई शक्तिशाली शत्रु दुर्गस्थ राजा पर अपना अधिपत्य जमाने के लिए चारों ओर से उसके दुर्ग को घेर देते थे। ऐसी स्थिति में यदि दुर्ग में स्थित राजा के पास अधिक खाद्य सामग्री और युद्ध सामग्री हो तो वह लम्बे समय तक लड़ सकता है या शत्रु को अंदर बैठकर ही क्षति पहुँचा सकता है।

अतः मनु ने सभी प्रकार की जीवनोपयोगी चीजों का किले में पहले से ही संग्रह करना आवश्यक माना है।

दुर्ग की सुरक्षा दुर्ग के निर्माण में दूरदर्शिता और सूक्ष्म विवेचन की ओर अत्यधिक ध्यान रखा गया था। तभी दुर्ग बल का इतना महत्त्व था और दुर्ग रहित राजा अपने को शक्तिशाली एवं सुरक्षित समझता था।

4.14 राजा कैसे स्थान में गुप्त मंत्रणा करे :

पर्वत की चोटी पर, राजमहल के एकान्त भाग में अथवा शांत जंगल में मंत्रणा करे।21

ऐसे करने से मंत्र सुरक्षित और उद्देश्यपूर्ति में सफलता मिलती है। जो राजा अपने मंत्र को कार्य की सिद्धि तक प्रकट नहीं होते देते थे कुशल राजनीतिज्ञ और अच्छे शासन समझे जाते हैं।

4.15 मंत्र को गुप्त रखने से क्या लाभ होता है?

जिस कुशल शासन के मंत्र को लोग उसके निकट आकर भी नहीं जानते ऐसा राजा कोष रहित होने पर भी सम्पूर्ण पृथ्वी का उपयोग करता है।22

इस प्रकार मंत्र का राज्य के संचालन एवं राजनीति में महत्त्वपूर्ण स्थान है। मंत्र का स्थान राजशास्त्रियों ने कोष से भी अधिक महत्त्व का बताया है।

4.16 दूत, गुप्तचर और उनके कार्यो का चिंतन :

दूत भेजने, शेष कार्य को पूर्ण करने अन्तपुर का कार्य प्रचार कार्य और प्राणिधियों (गुप्तचरों) की चेष्टाओं का राजा विचार करे।23

प्राचीन भारतीय विचारकों ने दूत और गुप्तचरों उनके कार्यो आदि पर अधिक विचार किया है। राजदूत एवं गुप्तचरों का राजनीतिशास्त्र में अधिक महत्त्व और राज्य की वास्तविक स्थिति को जानने में अपना एक विशेष स्थान था।

जिस भाँति आधुनिक युग में एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्रों में अपने राजदूत भेजकर मैत्रीपूर्ण संबंध रखते हैं। प्राचीन भारत में वह व्यवस्था अपने उन्नत और राजनीतिक दृष्टि से अच्छी स्थिति में थी। आठ प्रकार के कार्यों की चिन्ताः–

राजा आठ प्रकार के कार्य पज्यवर्ग अनुराग, अपराग और राज मण्डल के सभी काम वास्तविक रूप से विचार करे।24

अब विचारणीय विषय है कि जिनका यह वर्णन किया गया है वे आठ कार्य, पंच वर्ग आदि क्या हैं?

इनके विषय में भिन्न–भिन्न आचार्यों के भिन्न–भिन्न मत हैं। कुछ ने इस प्रकार आठ माने हैं:–

- **आदान–लेना**– प्रजा से कर आदि लेने से तात्पर्य है।
- **विसर्ग– प्रदान करना**– सेवकों को पारिश्रमिक के रूप में धन देना।
- **प्रेषण– भेजना**– मंत्री दूत–गुप्तचर आदि को किसी निदि को किसी निर्दिष्ट स्थान में भेजना।
- **निषेध**– अनुचित कार्य करने की आज्ञा न देना, नीति के विरूद्ध कार्य का त्याग करना।
- **अर्थ वचन**– महुमत होने पर राजाज्ञा के अनुरूप कार्य करना।
- **व्यवहार**– प्रजा के विवाद आदि कार्यों का न्याय करना।
- **दण्डग्रहण**– न्याय के विपरीत कार्य करने पर दण्ड के रूप में प्राप्त धन।
- **शुद्धि**– किसी समाज विरूद्ध कार्य करने पर प्रायश्चित द्वारा शुद्धि।

मेधा तिथि आदि के मत से आठ कार्य ये हैं :

- प्रारंभ न किये हुए कार्यों को प्रारंभ करना।
- प्रारंभ किये हुए कार्यों को शीघ्र पूर्ण करना।
- पूर्ण किए हुए कार्यों को अधिक उन्नत करना।
- कार्यों के परिणामों को एकत्रित करना।
- साम–6, दाम–7, भेद–8, दण को प्रयोग में लाना।

कुछ विद्वानों ने इन आठ कार्यों को इस प्रकार माना है :–

- व्यापार मार्गों का निर्माण करना।
- जलयुक्त मार्गों पर सेतु (पुलों) का निर्माण करना।
- सुरक्षा हेतु दुर्गों का निर्माण करना।
- किये हुए कार्यों का निर्णय करना।
- हाथी, अश्व आदि का संग्रह करना।
- खानों से प्राप्त होनेवाली खनिज वस्तुओं की प्राप्ति करना।
- शून्य स्थानों में प्रवेश कर उनसे लाभ उठाना।
- जंगलों से लकड़ी का लाभ उठाना।

4.17 पज्जवर्ग किसे कहते हैं?

पज्जवर्ग से यहाँ पाँच प्रकार के गुप्तचरों का विस्तृत वर्णन करना तात्पर्य है। गुप्तचरों के इस प्रकार के पाँच भेद है।[25]:–

- **कापटिक**– प्रजा जन के गुप्त रहस्यों को जानने वाला अति चतुर तथा छात्र रूप में रहनेवाला, राजा और मंत्री की हानि को देखकर उसकी सूचना तत्काल देनेवाले, कपट रूप से रहनेवाले गुप्तचर को कापटिक कहते हैं।
- **उदास्थित**–संन्यासी के वेश में रहनेवाला बुद्धिमान, पवित्र उदास्थित नाम से पुकारा जाता था।
- **गृहपतिक**– पवित्र मन, बुद्धिमान, धनहीन किसान के वेश में रहनेवाले पुरूष को गृहपतिक कहा जाता था।
- **वदेहक या व्यापारी**–पवित्र हृदय, बुद्धि सम्पन्न, धनहीन, व्यापारी के रूप में रहनेवाले गुप्तचर को व्यापारी या वैदेहक कहते हैं।
- **तापस**– मुण्डित अपना जटिल (जटाधारण किये हुए) वेश में रहकर जीविका के लिए राजा का कार्य करनेवाले गुप्तचर को तापस कहे है। सही समाचार देकर राजा को जागरूक करना इस पंचवर्ग का कार्य था।

4.17.1 अनुराग तथा अपराग :

अपने निकटतम, प्रियजनों, वेतनभोगी अधिकारियों और प्रजाजन के स्नेह और द्वेष को जानने को अनुराग और अपराग कहते हैं। इसे मालूम कर राजा उसका उपाय करे।

4.17.2 राज मण्डल का प्रचार :

मित्र, शत्रु एवं उदासीन राजाओं के मन्तव्यों को जान उसने अनुरूप चिंतन कर कार्य करना है।

4.17.3 मध्यम, उदासीन आदि को चिन्ता :

मध्यम प्रचार, उदासीन प्रचार और विजगोप, (जीतने की इच्छा करने वाले) की चेष्टाओं को जानने का राजा को प्रयत्न करना चाहिये।26

जहाँ राजा को राज्य की आन्तरिक उन्नति के लिए प्रयत्नशील रहना चाहिये, वहाँ दूसरी ओर चार प्रकार है– 1. मध्यम, 2. उदासीन, 3. शत्रु, 4. विजिगीपु, राजाओं से सतर्क रहना चाहिये। इन चार प्रकार के राजाओं की संक्षिप्त जानकारी इस प्रकार हैः–

- जिस राजा के राज्य से राज्य सीमा मिली हो और दोनों झगड़ा होने पर दोनों परस्पर शक्तिपरीक्षण में समान हो वह 'मध्यम' कहलाता है।
- जो राजा प्रत्येक भली–बुरी स्थिति के लिए सदा तत्पर रहे उसे 'उदासीन' कहते है।
- पड़ोसी राजा को शत्रु कहा जाता है। यह शत्रु भी तीन प्रकार का होता है। 1. सहज शत्रु, 2. कृत्रिम शत्रु, 3. पार्श्ववर्ती (पड़ोसी शत्रु), 4. जो अधिक शक्तिशाली हो और दूसरे के राज्य को जीतने की इच्छा करता हो उसे 'विजिगीपु'' है।

4.17.4 राजमण्डल की कितनी प्रकृतियाँ होती है?

मानव धर्मशास्त्र में राजमण्डल की 12 प्रकृतियाँ मानी गई है। चार ऊपर वर्णित 1. मध्यम, 2. उदासीन, 3. शत्रु, 4. विजीगीपु से राजमण्डल की मूल प्रकृतियाँ कही गई हैं और आठ अन्य प्रकृतियाँ मिलाकर वे बारह प्रकृतियाँ जानी जाती है।27

राजमण्डल की 12 प्रकार की जो प्रकृतियाँ बताई गई है। उसके पश्चात् 1. अमात्य, 2. राष्ट्र, 3. दुर्ग, 4. अर्थ, 5. दण्ड पाँच अपर प्रकृतियाँ है। प्रत्येक को ये पाँच प्रकृतियाँ कहीं गयी है जो संक्षेप में (द्विसप्रतित) 72 होती है।28

पूर्व वर्णित राजमण्डल की बारह प्रकृतियाँ के पाँच–पाँच भेद और होने से आठ भेद हुए और उन साठों में मूल बारह और मिलाने से बहत्तर भेद हो गये।

4.18 शत्रु आदियों पर राजा कैसे नियंत्रण कर रखें?

बुद्धिमान राजा उन 1. साम, 2. दाम, 3. भेद, 4. दण्ड नीति से और पुरूषार्थ से क्रमशः एक–एक कर या सभी से मिलकर पूर्ववर्णित चार प्रकार के मध्यम, उदासीन, शत्रु और विजीगीपु को अपने (नियंत्रण) वश में रखे। 29

4.19 अच्छा राजा इन छः गुर्गो को सदा ध्यान रखे :

संधि विग्रह, यान और आसन द्वेधीभाव और संश्रय इन षड्गुणों की राजा सदा चिंता रखे।30

यहाँ पर इन देः गुणों के विषय में विचार कर लेना आवश्यक है। संधि किसे कहते हैंः–

- **संधि**– परस्पर एक–दूसरे को सहायता करने का जो निश्चय होता है और जिसमें मेल द्वारा एक राष्ट्र के दूसरे राष्ट्र के साथ मित्रवत् संबंध स्थापित हो जाते हैं, उसे संधि कहते हैं।

4.19.1 संधि के भी दो प्रकार होते है :

- **समान कर्मा संधि**–तत्काल या भविष्य को लाभ की इच्छा से किसी शक्ति युक्त से मिलकर शत्रुपक्ष पर आक्रमण करना समानकर्मा संधि है।
- **विग्रह**– युद्ध आदि नीतियों द्वारा शत्रु पक्ष की हानि पहुँचाना विग्रह कहलाता है।

4.19.2 विग्रह के भी दो भेद होते है :

समय और असमय पर शत्रु को आपत्ति में पड़े देखकर स्वयं जो आक्रमण किया जाये वह प्रथम विग्रह भेद है। मित्र पर किसी दूसरे राजा के द्वारा आक्रमण या हानि पहुँचायी जा रही हो उस समय मित्र राजा की रक्षा के लिए किया गया कार्य द्वितीय विग्रह भेद है।

यान– शत्रु पक्ष के विरोधी कार्यो को देखकर उन पर जो आक्रमण किया जाता है। उसे यान कहते हैं।

4.19.3 यान के भी दो भेद होते है :

शत्रु पक्ष के राजा को आपत्ति में पड़ा देखकर सहसा उस पर आक्रमण करना प्रथम यान भेद हैं। स्वयं शक्ति युक्त न होने पर मित्र समर्थ राजा के साथ आक्रमण करना यान का द्वितीय भेद है।

आसन– शत्रु पक्ष की बुद्धि देखकर और अपनी शक्ति को कम समझ शान्त भाव से शक्ति संचय क`लिए किसी सुरक्षित जगह पर बैठकर जाना ही आसान कहलाता है।

4.19.4 आसन के भी दो भेद होते है :

देवात् या पूर्वजन्म के कामों के कारण क्षीण होने पर शत्रु को घेरे रहना प्रथम आसन का भेद है। मित्र की प्रार्थना पर उसकी रक्षा हेतु शत्रु का घेराव करना द्वितीय आसन भेद हैं।

द्वेधीभाव– अपनी सेना को अपने उद्देश्य पूर्ति के लिए दो भागों में विभक्त कर कार्य करना द्वेधीभाव है।

4.19.5 द्वेधीभाव के भी दो भेद होते है :

द्वेधीभाव के प्रथम भेद में अपनी कार्य सिद्धि के लिए अपनी समस्त प्रकार की सेना को शत्रु से रक्षा पाने के लिए एक भाग को सेनापति के साथ भेद दे। अपनी सेना का शेष भाग अपने अधीन दुर्ग आदि के लिए रखना द्वेधीभाव का दूसरा भेद है।

संश्रयः– शत्रु पक्ष से पीड़ित होने पर किसी शक्ति सम्पन्न राष्ट्र की सहायता पाना की संश्रय है।

4.19.6 संश्रय के दो भेद होते है :

शत्रु से पीड़ित किये जाने पर अपनी रक्षा के लिए किसी बलवान राजा का आश्रय लेना प्रथम भेद है। भविष्य में शत्रु से दुखी होने के भय से अपनी रक्षा के लिए किसी बलवान का आश्रय लेना द्वितीय संश्रय कहा जाता है।

प्राचीन भारतीय राजनैतिक विचारकों ने इन षड्गुणों पर अधिक विस्तृत और सूक्ष्म विवेचन किया है। इन गुणों के प्रत्येक के दो–दो भेद किये है। राजनीति के दावपेचों के द्वारा यह भी व्यक्त किया है कि शक्तिहीन राजा से कब और किस गुण का आश्रय लेकर आक्रमण करें। यदि शक्तिहीन है और बुद्धियुक्त है तो उसे किस प्रकार शत्रु पक्ष को समाप्त कराना चाहिये। राजशास्त्र के ज्ञाता को राजनीति में आवेश या शीघ्रता से कार्य नहीं करना चाहिये। ऐसा कार्य करने से अपने राष्ट्र के ऊपर आपत्ति भी आ सकती है और प्रजावर्ग पीड़ित होकर शत्रु पक्ष

की अधीनता स्वीकार कर सकता है। अतः प्राचीन भारतीय राजनैतिक विचारकों ने शासन का पूर्ण ज्ञान रखते हुए अपने विचारों से सच्चे शासकों को उपयोगी लाभप्रद एवं राष्ट्र हित के नियमों का समुचित रूप से ज्ञान दिया है जिनका ज्ञान प्रत्येक प्रशासक के लिए ग्रहण करना अनिवार्य हो जाता है।

अच्छा राजा अपने मित्र, शत्रु और उदासीन को अधिक न बढ़ावे।

राजनीतिज्ञ राजा सभी उपायों से ऐसा करे कि जिससे उसके मित्र, शत्रु और उदासीन अधिक न होवे। 31

राजा को अपने तीनों कालों के लिए गये कार्यो के विषय में चिंतन अवश्य करना चाहिये।32

- जो कार्य उसने किये हैं उनसे उसे कया हानि लाभ है?
- जो कार्य अधूरे हैं वे किस प्रकार पूर्ण होंगे?
- वर्तमान समय में जो कार्य हो रहे है उन्हें पूर्ण करनेवाला राजा कभी शत्रुओं से पराजित नहीं होता। ऐसा मानव धर्मशास्त्र के प्रणेता मनु का विचार है।

4.20 नीति किसे कहते है?

जिस कार्य को करने से मित्र, शत्रु और उदासीन लोग राजा को पीड़ा न दे संक्षेप में इसको राजनीति कहते है।33

आक्रमण करने के लिए कौन मास ठीक है? नीतिकारों एवं सैन्यशास्त्र विशारदों का विचार है कि जिन मासों में समय और प्रकृति पक्ष में ही उन्हीं निम्नलिखित मासों में शत्रु के नगर की ओर बढ़ना चाहिए। जैसे–

राजा मार्गशीर्ष शुभमास में या फाल्गुन मास में अथवा चैत्रमास में अपनी सैन्य शक्ति को देखकर शत्रु के नगर की ओर बढ़े। 34

4.21 सैनिकों का परीक्षण एवं उत्साहवर्धन किस प्रकार किय जाय?

युद्ध में रत सैनिकों की गतिविधियों पर अच्छे राजा की नियंत्रण में रत सैनिकों की गतिविधियों पर अच्छे राजा को नियंत्रण में रखने में पूर्ण दृष्टि रखनी चाहिये कहीं वे किन्हीं अपनी चेष्ठाओं से शत्रुपक्ष से मिल तो नहीं रहे है। जो सत्यनिष्ठ एवं कर्त्तव्य परायण होकर जीवन बलिदान कर रहे हैं उन्हें राष्ट्र प्रेम, युद्ध के महत्त्व, युद्ध में वीर गति पाने वालों को यश और अच्छी गति प्राप्त होती है एवं पुरस्कार के रूप में धन राशि भी प्राप्त होती है। ऐसे वाक्यों से उत्साहित करना चाहिये।

1971 के भारत पाकिस्तान के युद्ध में भारत सरकार ने सैनिकों को इसी भावना के आधार पर प्रोत्साहित किया है। वीरगति पानेवाले को परम वीरचक्र दिया उनके परिवार को पूर्ण सुविधायें प्रदान की और विकलांगों को पेंशन एवं नौकरी में सुअवसर दिये जिससे सेना में अधिक वीर

भर्ती हों, हँसते–हँसते देश की रक्षा के लिए बलिदान भी हो सके, ऐसी विचारधारा प्रजाजनों में देश–प्रेम का उत्साह भरती है।

युद्ध में व्यूह रचना (मोचावनाकर) करके राजा सैनिकों को उत्साहित करें एवं उनकी जाँच करें तथा शत्रुओं से लड़ते हुए उनकी चेष्टाओं को मालूम करता रहे।35

4.22 विजित राज्य से युद्ध के पश्चात् कैसा व्यवहार करना चाहिये?

उस शत्रु राजा तथा मंत्री एवं प्रजा के मुख्य लोगों की इच्छा को जानकर उसी वंश में उत्पन्न व्यक्तियों को उस राज्य में पुनः अभिषिक्त करे और उसके साथ संधि–पत्र ठीक कर लें। 36

प्राचीन भारतीय इतिहास में आदि महाकाव्य 'रामायण' के अध्ययन से विदित होता है कि मर्यादा पुरूषोत्तम आदर्श राम ने रावण जैसे दुष्ट राजा का संहार कर रावण के भाई विभीषण को ही जिसे लंका की समस्त जनता चाहती थी, उसे राज्य दे दिया। अपनी अत्यधिक शक्ति नष्ट करके भी उस राज्य को अपने अधीन नहीं किया। यह आदर्श पुरूष राम की उदारता,

बुद्धिमता, दूरदर्शिता, व्यवहार कुशलता, नीतिज्ञता और राजशास्त्र वेत्ता होने की विशेषता थी। कुशल राजनीतिज्ञ प्राचीन भारतीय राजनैतिक विचारकों अपनी जान हथेली पर रख युद्ध किया और विजय ने भारतीय सैनिकों द्वारा अभिनंदन किया। समस्त पूर्वी पाकिस्तान पर भारतीयों का शासन हो गया किन्तु भारतीयों ने देश के सच्चे, नेताओं ने पूर्व वर्णित श्लोक के शब्दों पर आचरण कियाऔर 'लंका विजय' के इतिहास को पुनः दोहराया।

विजित पूर्वी पाकिस्तान को वही की 'मुक्तिवाहिनी' को समर्पित कर नवोदित बंगला देश' की सहायता की और उसे मान्यता दी।

हमारे प्राचीन भारतीय राजनैतिक विचारक मनु ने विजित राज्यों के साथ विजेता को कैसा व्यवहार करना चाहिए? पर अपना मत इस प्रकार प्रकट किया है।

जिस देश में इतना भयंकर नरसंहारी युद्ध होगा उस देश की जनता की आर्थिक स्थिति किस प्रकार की हो जाती है। इसके लिए राजधर्म प्रवर्तक मनु ने उस देश की आर्थिक सहायता का प्रावधान बताया है–

विजयी राजा पुनः विजित लोगों के धार्मिक कार्यो को प्रमाणित करे और मंत्री आदि मुख्य लोगों के साथ उस राजा को रत्न आदि देकर सत्कार करे।37

इस उद्धरण से अवगत होता है कि विजित देश की विजेता को आर्थिक सहायता भी करनी चाहिए।

प्राचीन भारतीय विचारक राजधर्म प्रवर्तक मनु के दोनों उदाहरणों को लेकर हमारी समाजवादी भारता सरकार ने अनोखा कार्य किया। हमारा देश स्वयं कृष्ट में है किन्तु बंगला देश को शासन समर्पित कर उस शासन को सुचारू रूप से चलाने के लिए समस्त प्रकार की सहायता

दी और भारत की जनता पर एक नये कर ''शरणार्थी सहायता'' का भारत जानकर भी प्राचीन भारतीय राजनैतिक विचारधारा का अनुकरण किया। यह कार्य संसार के इतिहास में अभी तक कहीं भी देखा नहीं गया। यद्यपि भारत के लिए आदर्श राम के बाद यह दूसरी घटना है। जिसका प्राचीन भारतीय इतिहास प्रमाण है।

इसका सबसे अधिक श्रेय प्राचीन भारतीय राजनैतिक विचारकों को है। जिनके वर्षो के चिंतन का यह एक मौलिक उदाहरण मनुस्मृति ये उद्वत किया गया है। वर्तमान युग के विचारक और नेता पर तुलनात्मक दृष्टि के विचार कर इसे देखो।

4.23 मनुष्य धन की रक्षा किसलिए करता है?

मनुष्य आपत्ति के लिए धन की रक्षा करे, धन के द्वारा परिवार के स्त्री आदि की रक्षा करे और धन तथा स्त्री पुत्रों से सदा अपनी रक्षा करे।38

यहाँ दारान शब्द बहुवचन के लिए प्रयुक्त हुआ है किन्तु उसका तात्पर्य बहुत–सी स्त्रियों से नहीं है अपितु परिवार के पुत्रादि के होने से यह बहुवचन में प्रयोग हुआ है।

राजा के लिए उपदेश देने में दारान् शब्द बहुत सारी रानियों के लिए प्रयुक्त करना सार्थक है।

4.24 आपत्तियों के उपस्थित होने पर राजा को क्या करना चाहिये?

एक साथ अनेक आपत्तियों को आता देख बुद्धिमान राजा उत्साह भंग न करे अपितु सभी या पृथक–पृथक उपायों साम, दान, भेद दण्ड का प्रयोग करे।39

4.25 राजा के रोगग्रस्त होने पर कार्य भारत किसे दिया जा सकता है?

आरोग्य स्थिति में शासन संबंधित सभी कार्यो की राजा स्वयं देखे किन्तु जब अस्वस्थ हो ऐसी स्थिति में समस्त कार्यों के मुख्य मंत्रियों से सुपुर्त कर दे।40

शासन का आसन कभी भी किसी शासन पद्धति में एक क्षण के लिए भी खाली नहीं होता। यहाँ तक कि एक ओर शवयात्रा और दूसरी ओर कार्यभार ग्रहण करने का कार्य सम्पन्न होता है।

4.26 युत्र में न मारे जानेवाले भी कुछ लोग थे :

पृथ्वी पर बैठे हुये, अंजलि बांधे हुए, केश खोले हुए, आसीन हुए एवं मैं तुम्हारा हूँ ऐसा कहते हुए दीन योद्धा को न मारे।41

जो लोग युद्ध में अपनी असमर्थता प्रकट करते हुए अब न लड़ने की चेष्टायें प्रदर्शित करते थे। शक्तिशाली राजा ऐसे लोगों को अभय दान देकर छोड़ देता था।

4.27 ये सभी लोग अवध्य थे :

सोये हुए, कवच कुंडल से रहित, नग्न, शस्त्र रहित, युद्ध न करने वाले, युद्ध देखने वाले, दूसरे से युद्ध में रत योद्धा को न मारे।42

अस्त्र–शस्त्र, नष्ट होने से दुःखी, पुत्र शोक से भयभीत अत्यधिक घायल, युद्ध विरत योद्धा को, अच्छे क्षत्रिय धर्म का ध्यान रखते हुए न मारे। 43

प्राचीन भारतीय राजाशास्त्रियों ने युद्ध के विषय में भी कितने न्यायपूर्ण एवं मानवीय सिद्धान्तों को अपना कर अपनी सच्ची राजनीति का परिचय दिया।

आज सभ्य समाज, युद्ध प्रिय देश और आधुनिक राजनीतिज्ञ भी भारतीय ऊपर वर्णित नीति का अनुसरण करना चाहते हैं किन्तु हृदय की कपटता इसे सफल नहीं होने देती।

आलस्य को प्राचीन भारतीय विचारक मदु ने बहुत ही बुरा है और राजा को तो परामर्श दिया है िकवह इसको छोड़कर चार प्रकार की विद्या माना? आन्वीक्ष की 2. त्रयी, 3. वार्ता, 4. दण्डनीति एवं चार पुरूषार्थो का धर्म 2 अर्थ 3 काम 4 मोक्ष का आश्रम लेकर उद्योगी होने पर बल दिया है।

4.28 इनका राजा को सदा पालन करना चाहिये :

इन चार प्रकार की विद्याओं, चार पुरूषार्थ के प्रयोजनों का विधिपूर्वक, आलस्य रहित पूर्णरूप से पालन करें।44

ISBN: 978-81-19149-32-2

अध्याय 5

मनुस्मृति एवं याज्ञवल्क्य स्मृति एक तुलनात्मक अध्ययन

प्राचीन भारतीय सभ्यता के ऐतिहासिक विकास में मनुस्मृति और याज्ञवल्क्य स्मृति का बड़ा महत्त्वपूर्ण भाग रहा है। मानव धर्म पर लिखे गए इन दो ग्रंथों ने हिन्दूओं की समातिक और धार्मिक पद्धतियों को व्यापक रूप से प्रभावित किया। ये धर्मशास्त्र उससे भी पूर्व लिखे गये धर्म–सूत्रों से भिन्न है जबकि धर्मसूत्र प्राचीन वैदिक विचारधाराओं से संबंधित है और उनके मानने वाले सदस्यों के मार्ग–दर्शन हेतु छोटी दीपिकाओं के रूप में है। मनुस्मृति और याज्ञवल्क्य स्मृति प्राचीन वैदिक परम्परा के सुविख्यात संतों व ऋषियों द्वारा लिखी गयी और वे एक प्रकार से सम्पूर्ण धर्म संहितायें हैं। मनु और याज्ञवल्क्य के राजनीतिक विचारों पर प्राचीन ब्राह्मण ग्रंथों, स्मृतियों और अर्थशास्त्रों का प्रभाव प्रधान है।

हिन्दुओं का कानूनी साहित्य तीन वर्गो में विभाजित है : धर्मसूत्र, धर्मशास्त्र और टीकायें। इन तीन वर्गों में धर्म–शास्त्रों का महत्त्व अधिक है और धर्म–शास्त्रों में सर्वप्रथम स्थान मनुस्मृति अथवा मानव धर्म–शास्त्र का है। इसे हिन्दू कानून की सम्पूर्ण कट्टर पद्धति की आधारशिला माना जाता है और हिन्दूओं के साधारण एवं कानूनी साहित्य ने इसे सर्वसम्मत्ति से सर्वोच्च ग्रंथ समझा है। याज्ञवल्क्य स्मृति में दिये गये कानून बहुसंख्य हिन्दुओं के लिए आज भी मान्य है। इस विषय में यहाँ पर इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि मिताक्षरा याज्ञवल्क्य स्मृति की टीका है। मनुस्मृति केवल धर्मशास्त्र ही नहीं वरन् एक ऐसा ग्रंथ है जिसमें मनुष्य के सम्पूर्ण सामाजिक जीवन की व्यवस्था दी गयी है। मूलतः इसमें मनुष्य (मानव) के सामाजिक जीवन के उच्च सिद्धान्तों का विवेचन किया गया है, जिन्हें सभी कालों और देशों में लागू किया जा सकता है अर्थात् जिनका महत्त्व सर्वव्यापी है।[1] परन्तु हमारे दृष्टिकोण से इन धर्मशास्त्रों का महत्त्व इस कारण से है कि ये हिन्दू शासन–पद्धति के सिद्धान्तों के सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण स्रोत है। उनका संबंध जीवन के सम्पूर्ण क्षेत्र से है और उनमें प्रत्येक विषय के बारे में नियम दिये गये हैं। क्षत्रियों के कर्त्तव्यों के वर्णन में उन्होंने प्रशासन के विषय में भी विवेचन किया है जब वे सभी वर्णो और आयामों के कर्त्तव्यों का विवेचन करते हैं तो वे शासन के सभी सिद्धान्तों की ओर संकेत करते हैं। हिन्दुओं के कानूनी ग्रंथों में सबसे प्रसिद्ध मनु का धर्मशास्त्र हे, जो आज भी करोड़ों हिन्दुओं के विचारों और जीवन को प्रभावित करता है।

पाश्चात्य जगत के लिए मनुस्मृति ऐसे ग्रंथों में सबसे अधिक जाना हुआ ग्रंथ है। यह हिन्दू कानून पर सबसे प्राचीन ज्ञात ग्रंथ है, वशिष्ठ और गौतम के ग्रंथों में मनु के विलुप्त ग्रंथ से उद्धरण दिये गये है, यह बात मनुस्मृति की प्राचीनता का अनुसमर्थन करती है। परम्परा के अनुसार हिन्दू तो मनु को प्रथम विधि–वेता मानते हैं, और अन्य विधि–संग्रहों के बी मतभेद की दशा में मानव धर्म–संहिता को प्राथमिकता दी जाती है। मनु कौन थे? पौराणिक दृष्टि से, मनु मानव जाति का जनक तथा प्रथम विधिदाता थे। उनका वर्णन प्राचीन भारतीय राजाओं में प्रथम और महानतम राजा के रूप में भी किया जाता है। अन्त में, मनु कोई व्यक्ति न थे, वरन् महान विधिदाताओं (वेताओं) को दी गयी उपाधि थी। मनु संहिता के यथार्थ रचयिता

अथवा रचयिताओं ने उसमें सम्मिलित विधियों को अधिकारपूर्ण बनाने के लिए निःसंदेह मनु नाम धारण किया।[2]

मनुस्मृति की रचना कब हुई यह निश्चित रूप से कहना कठिन है। इसमें ऐसे श्लोक और विचार है जो अति प्राचीन प्रतीत होते है और महाभारत में भी कई स्थानों पर मनु आता है। प्राचीन हिन्दू परम्परा के अनुसार मनु मनुष्यों का प्रथम राजा था। यद्यपि मनु के वचन या श्लोक अति प्राचीन थ, परन्तु समय बीतने पर उनमें वृद्धि होती रही और अन्त मे वे वर्तमान 'मनुस्मृति' या मानव धर्मशास्त्र'' के रूप में संगृहीत कर लिए गये जो बहुत बाद की रचना है। मनुस्मृति में प्राचीनतर धर्मग्रंथों का प्रमाण देते हुए (3:232) रचयिता अत्रि, वशिष्ठ, गौतम और शौनक (3:16) का उल्लेख किया है, पर याज्ञवल्क्य (1:45) के धर्मशास्त्र में और विष्णु में, जो मनु पर अधिक आश्रित है, स्वयं मनु का प्रमाण दिया गया हैएवं नारद और वृहस्पति में भी। ये सब ही उसके बाद की कृतियाँ है। मनुस्मृति बौद्ध युग के बाद की रचना है।[3] मेक्समूलर का मतह" कि मनुस्मृति चौथी शताब्दी के बाद लिखी गयी, परन्तु जार्ज ब्हुलर के अनुसार इस ग्रंथ का अस्तित्व ईसा की दूसरी शताब्दी में भी था। डॉ0 जाली ने इसे याज्ञवल्क्य स्मृति से पूर्व लिखा गया ग्रंथ माना है और याज्ञवल्क्य स्मृति की रचना ईसा की प्रथाया दूसरी शताब्दी के पूर्व नहीं मानी जा सकती। इस विषय में डॉ0 जायसवाल का मत मान्य प्रतीत होता है। मनुस्मृति की रचना ईसा से दो शताब्दी पूर्व तथा दो शताब्दी बाद के मध्य काल में हुई।[4]

याज्ञवल्क्य स्मृति की रचना का काल 150 और 200 ई0 के मध्य माना जाता है। इसके प्रारंभ में मनु, अत्रि, विष्णु, हारीत इत्यादि स्मृतियों के नाम दिये गये हैं। इससे स्पष्ट है कि इन सब स्मृतियों को देखकर सबका सार लेकर लेखक ने अपनी स्मृति बनायी है।[5] डॉ0 बेनी प्रसाद के मतानुसार यह एक मौलिक ग्रंथ की अपेक्षा संग्रह अधिक है।[6] लेखक ने धर्मसूत्रों, मनु, विष्णु और पुराणों आदि से अनेक विचार लिए हैं, किन्तु उसके व्यापक ढ़ंग और स्पष्ट शैली ने उसे काफी लोकप्रिय बना दिया है। याज्ञवल्क्य के परिवार का संबंध मिथिला और विदेह से बताया जाता है, परन्तु डॉ0 जायसवाल के अनुसार इस ग्रंथ की रचना मध्यदेश अथवा पश्चिमी भारता में हुई। यह ग्रंथ ऐसे समय पर लिखा गया जबकि म्लेच्छों का शासन था, किन्तु इसमें उनके प्रति किसी प्रकार की शत्रुता का संकेत नही मिलता। यह विशुद्धतः वैज्ञानिक ग्रंथ है, लेखक के वैज्ञानिक और पक्षपात रहित दृष्टिकोण के कारण इस ग्रंथ को सम्पूर्ण भारत में मान्यता प्राप्त हुई।[7]

वेद की श्रुति और स्मृतियों को धर्मशास्त्र कहा गया है। धर्मशास्त्रों में उन अनेक कर्मो का विधान दिया गया है जिसे मनुष्य को स्वर्ग और मोक्ष प्राप्त होता है। जिस कर्म के करने से शारीरिक और मानसिक भावों की उन्नति और सत्वगुण की वृद्धि होती हो, वहीं धर्म है। इसके विरूद्ध जिस कर्म के करने से तमोगुण के क्रोध, मोह आदि भावों की वृद्धि हो, वहीं अधर्म है। जो धारण के लिए है वहीं धर्म है। इसको धारण किये बिना लौकिक और पारलौकिक सत्य और सुख मनुष्य को कभी नहीं प्राप्त हो सकते। धर्म के कई अंगों में से किसी एक पूर्ण रीति से साधन, अर्थ, काम और मोक्ष देने में समर्थ होता है।

जहाँ अन्यान्य स्मृतियों में से किसी में 'अर्थ' का प्रतिपादन किया गया है तो किसी में 'काम' या 'धर्म' का, किन्तु एकमात्र मनुस्मृति में ही काम, अर्थ, मोक्ष तथा धर्मरूप चारों पुरूषार्थो का

विशद रूप से प्रतिपादन किया गया है। इसके अतिरिक्त इस ग्रंथ में वर्णधर्म, आश्रमधर्म, वर्णाश्रम धर्म तथा सामान्य धर्म आदि धर्म के विभिन्न रूपों का भी विशद रूप से प्रतिपादन किया है। मनुस्मृति में सामान्य धर्म की व्याख्या इस प्रकार की गयी है– धर्मात्मा एवं राग द्वेष से रहित विद्वानों द्वारा सर्वदा सेवित और हृदय से अच्छी तरह जाना गया जो धर्म है, उसे सुनो[8] लव वेद, वेदों को जानने वाले, स्मृतियाँ और ब्राह्मणत्व आदि तेरह प्रकार के शील या राज द्वेष–शून्यता, महात्माओं का आचरण और अपने मन की प्रसन्नता, ये सब धर्म के मूल हैं। वेदों और स्मृतियों में कहे गये धर्म का अनुष्ठान (पालन) करता हुआ मनुष्य इस संसार में यज्ञ पाता है और धर्मानुष्ठान से जन्य स्वर्मादि उत्तम सुख को पाता है, अतएव वेद–स्मृति में प्रतिपादित धर्म का पालन करना चाहिए।

याज्ञवल्क्य के मतानुसार अट्ठारह पुराण, न्याय, मीमांसा धर्मशास्त्र और व्याकरण आदि छः अंगों के सहित चार वेद ये चौदह विद्या के अर्थात् पुरूषार्थ ज्ञान और धर्म के कारण है। मनु, अत्रि, विष्णु, हारीत, आपस्तम्ब, पराशर और वशिष्ठ आदि धर्मशास्त्र के मुख्य बनाने वाले हैं। श्रुति अर्थात् वेद, स्मृति, धर्मशास्त्र, धर्मशील लोग को काम करते आये हों अपनी आत्मा की जो प्रिय हैं और श्रुति संकल्प से उत्पन्न जो कामना है, ये सब धर्म के मूल हैं। यज्ञ, सदाचार, इन्द्रियों का दमन, जीव का वध न करना, दान और वेद आदि का पढ़ना आदि से बड़ा धर्म योग द्वारा आत्मा का दर्शन करता है।

मनुस्मृति में बारह अध्याय है जिनमें वर्णांत मुख्य विषय इस प्रकार है :

- संसार की उत्पत्ति
- जात कमादि
- जात कर्मादि संस्कार विधि, ब्रह्मचर्य,
- पंच महायज्ञ, नित्य श्राद्ध विधि,
- स्नातक (गृहस्थ) के नियम,
- भक्ष्य तथ अभक्ष्य पदार्थ,
- वाणप्रस्थ तथा संन्यास आश्रम,
- व्यवहार के मुकदमों का निर्णय, करग्रहण आदि राजधर्म,
- साक्षियों से प्रश्न विधि,
- स्त्री तथा पुरूष के धर्म, धन आदि सम्पत्ति का विभाजन,
- आपत्ति काल के कर्त्तव्य धर्म,
- पाप की निवृति के लिए प्रायश्चित आदि और
- मोक्षप्रद आत्म ज्ञान।

याज्ञवल्क्य स्मृति अनेक प्रकरणों में विभाजित है, जिनमें से कुछ मुख्य के शीर्षक इस प्रकार हैं– ब्रह्मचर्य, विवाह, गृहस्थधर्म, स्नातनधर्म, यतिधर्म, दानधर्म, ऋणदान, राजधर्म, दण्डपारूप्य, साक्षी, लेख्य, दाय 'विभाग' आदि। इसमें कुल 10–10 श्लोक हैं, जो तीन अध्यायों में संगृहीत किये गए हैं। प्रथम अध्याय तेरह प्रकरणों में बँटा है और हमारी दृष्टि में यही सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है।

5.1 समाज :

सृष्टि रचना–मनुस्मृति के प्रथम अध्याय में सृष्टि–रचना सि प्रकार हुई इसका वर्णन है। यह संसार प्रलय काल में तम (प्रकृति) में लीन अज्ञेय (नहीं जान सकने योग्य) था। तब स्वेच्छा से शरीर धारण करनेवाले भगवान आकाशादि महाभूतों को व्यक्त करते हुए प्रकट हुए। उस परमात्मा में अनेक प्रकार की प्रजाओं की सृष्टि करने की इच्छा से ध्यान कर सबसे पहले जल की ही सृष्टि की ओर उसमें शक्तिरूपी बीज को छोड़ा। वह बीज हजारों सूर्य के समान प्रकाशवाला अण्डा हो गया और उससे सम्पूर्ण लोकों की सृष्टि करने वाले ब्रह्मा उत्पन्न हुए। फिर विनश रहित उस ब्रह्मा से महाशक्तियुक्त सात पुरूषों (महत्त्वत्व, अहंकार तथा शब्द आदि पंच तन्मात्राओं) की सूक्ष्म मूर्ति के अंशों से विनाशशील यह संसार उत्पन्न हुआ। इसी संसार को मनीषिगण ने अविनाशी भगवान का मूर्तिमान रूप (विराट पुरूष) माना है। इस प्रकार जगत के प्राणियों के असंख्य मुख मिलाकर उस विराट पुरूष का मुख और उनकी बाहुओं का समावेश उस विराट पुरूष की दोनों बाहु हुए। इसी प्रकार जगत के प्राणियों के अन्य अवयवों के समावेश से उस विराट पुरूष के तत्संबंधी अवयवों की कल्पना की गयी है। इस दृष्टि से जगत एक अवयवी (जीव) है जिसका निर्माण अवयवों से हुआ है। उस विराट् पुरूष ने अपने शरीर के दो भाग किये, एक अर्ध भाग से नर और दूसरे अर्ध भाग से नारी जगत की उत्पत्ति हुई। लोक वृद्धि के लिए उसी विराट पुरूष (ब्रह्मा) ने मुख वाह, उरू और पैर से क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शुद्र की सृष्टि की।

धर्म– यहाँ संसार को मोक्ष की ओर प्रवृत करते हुए कर्म करने का मार्ग बताया है। निरूक्त में धर्म का पर्यायवाची 'नियम' बताया गया है। अतः धर्म नियमों का वह समूह है जो आत्मा को ऊपर उठाकर परमात्मा के साथ सामर्थ्य स्थापित करने का मार्ग बताते हुए और मानव गुणों को अक्षुण्ण रखते हुए उसे मोक्ष की ओर ले जाता है। इसी अर्थ के अनुकूल महर्षि कणाद ने धर्म की स्पष्ट करते हुए कहा था कि 'यतोऽभ्युदयनिः श्रेयससिद्धिः स धर्मः' अर्थात् जिसके द्वारा लौकिक सुख और अंतिम लक्ष्य की सिद्धि हो सके वही धर्म है। मनु और याज्ञवल्क्य भी इसी अर्थ में धर्म को लेते हैं। स्मृतियों में धर्म का एक और विभाजन मिलता है, प्रथम सर्वसाधारण के द्वारा व्यवहार में लाये जानेवाले नियमों का बताया है। द्वितीय विशेष धर्म है, इसी को वर्णधर्म, आश्रमधर्म आदि से अभिहित किया गया है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना) पवित्रता, इन्द्रिय–निग्रह, दान, संयम, धैय आदि सर्वसाधारण के लिए और सभी वर्णों के लिए धर्म है। विशेष धर्म में हम ब्रह्मचारी, गृहस्थ्य वानप्रस्थ और संन्यासियों के अपने–अपने पृथक कर्मो के लिए नियमों का विधान पाते है। इसी प्रकार चारों वर्णों के अपने–अपने अलग नियम विधान हैं। सृष्टि के तीन गुण माने गये है– सत्वगुण, रजोगुण तथा तमोगुण। सत्वगुण धर्म का द्योतक है, रजोगुण काम का तथा तमोगुण अर्थ का द्योतक है। वर्ण के व्यक्ति प्रारंभिक सत्वगुण की वासना से युक्त होकर जन्म लेते हैं। क्षत्रिय और वैश्य वर्ण पूर्वकृत रजोगुण के तारतम्य से शरीर धारण करते हैं तथा शुद्र वर्ण तमोगुण के कारण तदनुरूप शरीर प्राप्त करता है।[9]

वर्ण और आश्रम– ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न होने से (अन्य तीनों वर्णों की अपेक्षा पहले उत्पन्न होने के कारण) ज्येष्ठ होने से और वेद के धारण करने से धर्मानुसार ब्राह्मण ही सम्पूर्ण सृष्टि का स्वामी (सब में श्रेष्ठ) होता है। भूतों (पृथ्वी आदि पांव महाभूतों) में प्राणी श्रेष्ठ है, प्राणियों में बुद्धिजीवी श्रेष्ठ है। बुद्धिजीवियों में मनुष्य श्रेष्ठ और मनुष्यों में ब्राह्मण श्रेष्ठ है। सर्वशास्त्र

ज्ञाता स्वयंभू पुत्र मनु ने ब्राह्मण तथा अन्य वर्णों के कर्मज्ञान के लिए इस शास्त्र की रचना की। विद्वान ब्राह्मण को यह धर्मशास्त्र यत्नपूर्वक अपने अधिकारी शिष्यों को यथा योग्य पढ़ाना चाहिए, अन्य कोई वर्ण इस शास्त्र को न पढ़ावें। चारों वर्णों के कम, आदि अलग–अलग है। यज्ञ को करने कराने वाले जिन ब्राह्मणों का आश्रय लेकर (पृथ्वी आदि) लोक तथा (इन्द्र आदि) देव स्थिति पाते हैं और ब्रह्मा (वेद) ही जिनका धन है उन ब्राह्मणों को जीने का इच्छुक कौन व्यक्ति मारेगा अर्थात् कोई नहीं। ब्राह्मण के बिना क्षत्रिय तथा क्षत्रिय के बिना ब्राह्मण समृद्धि को नहीं पा सकते। सब दण्डों (जुर्मानों) से प्राप्त धन को ब्राह्मणों के लिए देकर तथा राज्य को पुत्र के लिए सौंपकर (क्षत्रिय राजा) युद्ध में प्राण त्याग करे और युद्ध के असंभव होने पर अनशन आदि से प्राण त्याग करे।

संक्षेप में, क्षत्रिय (राजा) का कर्त्तव्य राजधर्म में तत्पर रहकर राज करना, अन्य क्षत्रियों का कर्त्तव्य राज्य की रक्षा करना है। वैश्य खेती आदि करने तथा पशुपालन में सर्वदा लगा रहे। इस प्रकार वैश्य धर्म से (व्यापार, पशुपालन तथा खेती के द्वारा) धन बढ़ाने का उद्योग करता रहे तथा सब प्राणियों के लिए प्रयत्न पूर्वक अन्न का ही अधिक दान करता रहे। वेदज्ञाता ब्राह्मणों तथा यशस्वी सद् गृहस्थों की सेवा करना ही शुद्र का कल्याणकारक उत्तम धर्म है। वर्ण धर्म के साथ–साथ मनु ने द्विजों (उच्च वर्णों) के लिए जीवन के चार आश्रमों के धर्म का भी वर्णन किया है। ये चार आश्रम इस प्रकार है– ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास। वर्णधर्म और आश्रमधर्म मिलने से ही वर्णाश्रम धर्म बनता है जो हिन्दू समाज का आधार रहा है। याज्ञवल्क्य के अनुसार भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शुद्र चार वर्ण है। इनमें से पहले तीन द्विज कहलाते हैं, क्योंकि उनके सभी संस्कार जीवन के आरंभ से अन्त तक मंत्रों से होते हैं।

शुद्रों को धर्म ज्ञान से वंचित रखा गया है, यदि कोई व्यक्ति शुद्र को पवित्र धर्म समझावे या उसे प्रायश्चित बतावे तो वह स्वयं अपने शिष्य के साथ नकर में जायेगा। मनु ने शुद्रों को कहीं भी मान नही दिया है। जबकि व्यापार और शुद्र से होनेवाली आय को मनु ने सत्यानृत (सच और झूठ का मेल) कहा है, शुद्रों के लिए केवल सेवा–कार्य ही है, जिसे स्ववृति कुत्ते कैसी जीवन शैली कहा है। इस प्रकार की सामाजिक व्यवस्था बनाये रखना शासन का मुख्य कर्त्तव्य है।

स्त्रियाँ –मनुस्मृति के अनुसार समाज में स्त्रियों का पद पुरूषों से गिरा हुआ है। मनु का कथन हैः बालपन में स्त्री पिता के अधीन रहे, युवती होने पर पति के अधीन रहे और जब उसके पति का देहान्त हो जाये तो वह अपने पुत्र के अधीन ही रहे। इस प्रकार स्त्री कभी भी स्वतंत्र नहीं रह सकती। परन्तु पिता, पति और पुत्र 'पुत्री' पत्नी तथा माता' के प्रति अच्छा और उदार व्यवहार करें। मरणो–पर्यन्त स्त्री–पुरूष का धर्म, अर्थ और काम विषयक कार्यों में कभी पृथकत्व न हो, यही स्त्री–पुरूष का धर्म है। स्त्री का मुख्य कार्य घर की व्यवस्था करना है। मनु ने एक प्रकार से विवाह के अवसर पर धन ग्रहण करने अर्थात् पुत्री बेचने की खुली निन्दा की है, परन्तु स्त्री–धन पर स्त्री का पूर्ण अधिकार बताया है। दाय–भाग के विषय में मनु का कथन है– माता–पिता के मरने पर सब भाई एकत्रित होकर पैतृक सम्पत्ति को बराबर बाँट लें अथवा बड़ा भाई ही पिता के सब धन को प्राप्त करें और अन्य छोटे भाई उस बड़े भाई से (पिता के समान) भोजन–वस्त्र आदि पाते रहें। ज्येष्ठ भाई छोटे भाईयों का पालन पिता के समान करे। पुत्रियों तथा बहनों का विवाह करना पिता और भाई का कर्त्तव्य बताया है, किन्तु विवाह के पश्चात् उनका पिता की सम्पत्ति में कोई भाग नहीं रहता।

याज्ञवल्क्य के मतानुसार भी 'कुमारी की रक्षा पिता करे, विवाहिता होने पर पति, बुढ़ापे में पुत्र और इनमें से कोई न हो तो जाति के लोग रक्षा करे। (विवाह प्रकरण, श्लोक–85) दाय विभाग के विषय में उसका कथन है– यदि पिता पति अपने जीते जी अपनी सम्पत्ति का विभाग करे, तो अपने उपार्जित धन में उसकी इच्छा है चाहे सबको बराबर दे अथवा ज्येष्ठ पुत्र को श्रेष्ठ भाग अर्थात् अधिक देवे। माता और पिता के देह त्याग होने पर सब पुत्र इकट्ठे होकर धन और ऋण बराबर बाँट लेवें। परन्तु माता का धन उसका ऋण देकर जो बचे सो लड़कियाँ बाँट लेवें, यदि लड़कियाँ न हो तो पुत्र बाँट लेवे। जिस व्यक्ति के कोई पुत्र न हो, वह मर जाये तो, उसका धन पत्नी, लड़कियाँ, पिता, माता, भाई आदि में बँटे। याज्ञवल्क्य क`मत में भी स्त्रियों का उचित स्थान घर ही है। सलेटोरे के अनुसार मनु ने स्त्रियों का पद पुरूषों से नीचा रखा है, ऐसा प्रतीत होता है कि उसने स्त्री को जीवन भर पर आश्रित बताया है।[10] प्रायः ऐसी ही स्थिति स्त्री को याज्ञवल्क्य ने भी प्रदान की है। किन्तु डॉ0 जायसवाल का मत है कि मानव धर्मशास्त्र में स्त्री को प्रायः भुला दिया गया है, क्योंकि प्राचीन सामान्य धर्म का यही मत था। याज्ञवल्क्य स्मृति में स्त्री को कानूनी व्यक्ति माना गया है, यह उसे सम्पत्ति के उत्तराधिकार की आज्ञा देती है।[11]

5.2 राज्य :

राज्य की उत्पत्ति– मनु स्मृति के सातवें अध्याय में राज धर्म का प्रतिपादन करते हुए राज्य (अथवा राजा) की उत्पत्ति के विषय में कहा है–'आदि काल में इस संसार में राजा के न होने पर बलवानों के डर से (पूजा) के इधर–उधर भागने पर सम्पूर्ण चराचर की रक्षा के लिए भगवान ने राजा की सृष्टि की। (ईश्वर ने) इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, अग्नि, वरूण, चन्द्रमा और कुबेर का सारभूत नित्य और लेकर राजा की सृष्टि की। इस प्रकार राज्य (राजा) की उत्पत्ति ईश्वर द्वारा हुई, किन्तु उसकी उत्पत्ति में सामाजिक अनुबन्ध के सिद्धान्त का आभास होता है, क्योंकि राजा की उत्पत्ति बलवानों के डर से प्रजा के इधर–उधर भागने पर सम्पूर्ण चराचर की रक्षा के लिए हुई। जिन देवताओं के सारांश से राजा की सृष्टि हुई, उन्हें लोकपाल कहा जाता है। अतएव लोकपालों के सारांश से निर्मित होने पर राजा अपने से सभी लोकपालों के गुणों को समाविष्ट करता है। पूर्वोक्त देवताओं को लोकपाल अथवा दिक्पाल कहे जाने का कारण यह है कि वे विभिन्न दिशाओं के रक्षक (पालक) के रूप में है। अतएव यह उचित ही है कि राजा जो पृथ्वी पर सभी दिशाओं में शांति और व्यवस्था कायम करने का उत्तरदायित्व रखता हे, उन्हीं लोकपालों का अंशभीूत हो। साधारण प्राणी और राजा में उसकी सृष्टि की विभिन्नता के कारण ही अधिक तेज रहता है। कार्य, शक्ति, देश और काल को तत्व से देखकर धर्मसिद्धि के लिए राजा बार–बार नाना प्रकार का रूप धारण करता है– कभी क्षमा, कभी कोप, कभी मित्रत्व, कभी शत्रुता इत्यादि। याज्ञवल्क्य ने राज्य (अथवा राजा) की उत्पत्ति के विषय में कुछ नहीं कहा है।

सप्तांग राज्य– मनु और याज्ञवल्क्य दोनों ने ही राज्य को सप्तांग माना है अर्थात् राज्य सावयव है। मनुस्मृति के अध्याय 9 के श्लोक 294 में कहा गया है– (1) स्वामी (राजा), (2) मंत्री, (3) पुर (किला, परकोटा आदि से सुरक्षित राजधानी), (4) राष्ट्र, (5) कोप, (6) दण्ड और (7) मित्र, ये सात राज प्रकृतियाँ है, इनसे युक्त–'सप्तांग' राज्य कहलाता है। याज्ञवल्क्य स्मृति के राजधर्म प्रकरण में भी यही मत व्यक्त किया गया है– स्वामी (उत्साह आदि गुण युक्त राजा), अमात्य (मंत्री), जन सप्तांग कहलाता है। जिस राज्य में मनुस्मृति की रचना हुई वह एक

विशाल राज्य था, जैसा कि मनुस्मृति में उसका वर्णन करते हुए बताया गया है। आर्यावर्त उत्तर में हिमालय और दक्षिण में विध्य पर्वतों के मध्य पूर्वी और पश्चिमी सागरों तक विस्तृत था और उसमें सम्मिलित विभिन्न प्रदेश ये थे ब्रह्मवर्त (सरस्वती तथा दृषद्धती नदियों के बीच का भूखण्ड जिसमें कुरूक्षेत्र, मत्स्य, पाञ्वाल, मथुरा आदि स्थित थे) और मध्य देश (अर्थात् हिमालय और विध्य के मध्य का, विनासना के पश्चिम तथा प्रयाग के पूर्व का प्रदेश)। इस प्रकार मानव धर्मशास्त्र की रचना तब हुई जबकि इतने विशाल प्रदेश को राजनीतिक एकता प्राप्त हो चुकी थी। मनुस्मृति और याज्ञवल्क्य स्मृति दोनों में ही केवल राजतंत्र का उल्लेख है।

मनु ने स्वराष्ट्र (7:23) और पर–राज्य (7:68), मित्र और शत्रु राष्ट्र (7:32) मण्डल राष्ट्र (7:145) इनका उल्लेख किया है, जो एक दूसरे के साथ विभिन्न मंत्री संबंधों से बँधे होते थे। इनमें कुछ मध्यम या केन्द्र स्थानीय, कुछ उदासीन या तटस्थ और कुद विजीगोपु या विजयाकांक्षी (9:312) राज्य होते थे इससे विदित होता है कि मनु में जिस आर्यावर्त का चित्र है वह अनके जनपदों में बँटा हुआ था और राजनीतिक दृष्टि से एक न था। मनु के दृष्टिपथ में वह राज्य था जिसके लिए कुरूक्षेत्र, मत्स्य, पांचाल और शुरसेन से सेना की भरती की जाती थी (7:193)। ऊपर की परिभाषा के अनुसार यह ब्रह्मर्षि देश हुआ। इनकी राजधानी गंगा और कुरूक्षेत्र दोनों से दूर थी (8:92)। राज्य की संज्ञा राष्ट्र थी, उसके नागरिक राष्ट्रिक कहलाते थे। राष्ट्र में उसका राजा और प्रजाएं (9:22–6) होती थी। राष्ट्र के अन्तर्गत कई देश (9:251) अथवा जनपद या विशः (7:134) होते थे।[12]

राज्य के कार्यक्षेत्र के विषय में मनुस्मृति बताती है कि राज्य की सभी वर्णो से धर्म का पालन कराना, सामान्य कानूनों को मनवाना, राज्य के भीतर शांति बनाये रखना और राज्य को वाह्य नियंत्रण से स्वतंत्र रखना चाहिए। इनके अतिरिक्त भी राज्य की वस्तुओं, के मूल्य पर नियंत्रण के लिए कानून बनाने चाहिएः विभिन्न समूहों के बीच विवाद उठने पर उनका निर्णय करना चाहिए। परिवारों और समूहों के बीच उठने वाले विवादों का निर्णय करना चाहिएः वेश्यों को व्यापार, कृषि व पशु–पालन आदि कार्य करने और शूद्रों को द्विजों की सेवा के कार्य करने के लिए बाध्य करना चाहिए। राज्य को विभिन्न वर्गो के बीच संघर्ष को रोकना चाहिए और प्रत्येक व्यक्ति को उसके उचित स्थान पर रखना चाहिए। राज्य को शिक्षा भी प्रदान करनी चाहिए तथा शिक्षकों व शिक्षितों को ध्यान रखना चाहिए। इन कार्यों को पूरा करने के लिए राज्य को विभिन्न प्रकार के कर लगाने का अधिकार है और अपराधियों को दण्ड देने का भी। इस प्रकार राज्य के कार्यों का क्षेत्र काफी विस्तृत हुआ। इसी कारण केवल मोटवानी के मतानुसार राज्य द्वारा बनाये जाने वाले अनेक कानून वर्तमानकालीन राजशास्त्र के विद्यार्थियों को समाजवादी प्रतीत होंगे।[13] अन्य पूर्वगामी आचार्यो के समान ही याज्ञवल्क्य के अनुसार भी शासन के कार्यो का क्षेत्र सम्पूर्ण मानव जीवन तक विस्तृत है।

उदाहरण के लिए, राजा का यह कर्त्तव्य है किवह सभी परिवारों, श्रेणियों, गणों और जनपदों को अनुशासित रखे जिससे कि वे सभी अपने–अपने कर्त्तव्यों का समुचित रूप से पालन करें। सामाजिक व्यवस्था को कठोरता के साथ बनाये रखना है। दुष्टों और अपराधियों को सर्वथा दण्ड मिलना ही चाहिए। राजा को अपने संबंधियों तक को अपराध करने पर दण्ड देना चाहिए। बेनी प्रसाद के मतानुसार याज्ञवल्क्य स्मृति में भी, उसके पूर्वकों की भांति राज्य में कार्यों का विस्तार सम्पूर्ण मानव जीवन तक फैला है।14

5.3 राजा :

मनु का राजा की देवी उत्पत्तिस के सिद्धान्त में विश्वास है, यह पहले बताया जा चुका है कि ईश्वर ने इन्द्र, वायु, यम, सूर्य आदि देवताओं का सारभूत नित्य अंश लेकर राजा की सृष्टि की। इसी कारण राजा अपने तेज से सब जीवों को अभिभूत अथवा पराजित करता है। वह राजा देखने वालों के नेत्र तथा मन को सूर्य के समान संतप्त करता हैः अतः पृथ्वी पर कोई भी उसे देखने में समर्थ नहीं होता। राजा अग्नि–रूप, सूर्य–रूप, चन्द्र–रूप, धर्मराज (यम) रूप, कुबेर रूप और महेन्द्र रूप है। अतएव ऐसा मानकर कि ''राजा मनुष्य ही तो है'' बालक राजा का भी अपमान नहीं करना चाहिए, क्योंकि उसके रूप में देवी शक्ति स्थिर रहती है। जो कोई अज्ञानवश होकर राजा के साथ द्वेष करता है, वह निःसंदेह शीघ्र ही नष्ट हो जाता है, क्योंकि राजा उसके विनाश के लिए चेष्टायुक्त होता है। याज्ञवल्क्य स्मृति के अनुसार भी राजा में देवी अंश है। जैसा कि एक प्राचीन रहस्यमय कथा में कहा गया है कि जब देवताओं तथा मनुष्यों को नियंत्रण में न रखा जा सका तब प्रजापति ने पूछा कि आवश्यक कार्य और प्रजा की रक्षा कौन करे? देवताओं ने उत्तर दिया कि वे विभिन्न देवताओं–सोम, आदित्य, इन्द्र, विष्णु और यम के विशिष्ट–सौन्दय, वीरता, अनुशासन और त्यागआदि से मनुष्य के रूप में एक राजा की सृष्टि करेंगे।[15] इस प्रकार यह स्पष्ट है कि याज्ञवल्क्य भी राजा की देवी उत्पत्ति को मानता है और दोनों ही आचार्य के मतानुसार राजा देवांश है। डॉ0 जायसवाल का कथन है कि मानव धर्मशास्त्र के अनुसार विभिन्न देवता राजा के शरीर में आते हैं और वह स्वयं एक महान देवता बन जाता है। मनु ने राजा को देव बनाया है, जिससे घृणा करने वालों को निरंकुश शक्तियों से दंडित किया जाता है।[16]

राजा के गुण आदि–मनु स्मृति में कहा गया है कि राजा प्रतिदिन प्रातः काल उठकर विद्वान ब्राह्मणों की सेवा करे और उनके शासन में रहे, बुद्ध वेद ज्ञाता और शुद्ध हृदय वाले ब्राह्मणों की नित्य सेवा करे और उन वृद्ध ब्राह्मणों से पहले से विनय युक्त राजा भी सर्वदा और अधिक विनय सीखे, क्योंकि विनययुक्त राजा कभी नष्ट नहीं होता और अविनय के कारण वेन, नहुप आदि राजा नष्ट हो गये। राजा तीनों वेदों के ज्ञाता विद्वानों से क्यों विद्या, नित्य दण्डनीति विद्या, आन्वीक्षिकी विद्या और लोक व्यवहार से वार्ता विद्या को सीखे। राजा को सर्वदा इन्द्रियों को जीतने में प्रयत्नशील रहना चाहिए, क्योंकि जितेन्द्रिय राजा प्रजा को वश में रखने में समर्थ होता है। राजा को काम से उत्पन्न 10 और क्रोध से उत्पन्न 8 व्यसनों को प्रयत्नपूर्वक त्यागना चाहिए, क्योंकि प्रथम प्रकार से व्यसनों में आसक्त राजा अर्थ तथा धर्म से भ्रष्ट हो जाता है और दूसरे प्रकार के व्यसनों में आसक्त होने वाला राजा आत्मा से ही भ्रष्ट हो जाता है अर्थात् स्वयं नष्ट हो जाता है। प्रथम प्रकार के 10 व्यसनों के नाम इस प्रकार के हैं– मृगया (शिकार), जुआ, दिन में सोना, पराये की निन्दा, स्त्री में अत्यासक्ति मद (नशा–मद्यपान आदि), नाच–गाने में आसक्ति और व्यर्थ (निष्प्रयोजन) भ्रमण। क्रोध से उत्पन्न 8 प्रकार के व्यसन ये हैं–चुगलखोरी, दुस्साहस, द्रोह, ईर्ष्या, असूया (दूसरों के गुणों में दोष बताना), अर्थदोष (धन का अपहरण या धरोहर आदि को वापस न करना), कठोर वचन और कठोर दण्ड। व्यसन तथा मृत्यु दोनों ही कष्टकारक है, किन्तु मृत्यु की अपेक्षा व्यसन अधिक कष्टकारक है, क्योंकि मरा हुआ व्यसनी पुरूष नरक में जाता है और मरने पर व्यसन–रहित पुरूष स्वर्ग में जाता है।[17]

राजा के कर्त्तव्य– मनुस्मृति के अनुसार राजा पूरे प्रयत्न से पहाड़ी दुर्ग में निवास करे, क्योंकि वह सब दुर्गो में श्रेष्ठ होता है। दुर्ग में रहनेवाले राजा को शत्रु नहीं मार अथवा जीत सकते।

दुर्ग को शस्त्रों, धन–धान्य, वाहन, ब्राह्मणों, कारीगरों, यंत्रों, चारा और जल से संयुक्त रखे। दुर्ग के बीच में एक बड़ा सुरक्षित महल बनवाना चाहिए, जिसमें स्वीकृत, देव मंदिर, अग्निशाला, स्नानागार आदि भवन अलग–अलग बनवाने चाहिए और उसमें सब ऋतुओं में फलने–फूलने वाले वृक्ष, फूल और लता तथा जलाशय आदि भी होने चाहिए। राजा स्वजातीय, शुभ लक्षणों वाली, श्रेष्ठ कुल में उत्पन्न, हृदय–प्रिय तथा रूप एवं गुण से युक्त स्त्री से विवाह करे। राजा को यज्ञ और पुरोहित कर्म करने के लिए ऋत्विक को वरण करना चाहिए। राजा को अश्वमेध, विश्वजित आदि अनेक यज्ञ और धर्म के लिए ब्राह्मणों को भोग साधक पदार्थ तथा धन देना चाहिए। राजा विश्वासपात्र व्यक्तियों से वार्षिक कर वसूल कराये और लोगों से कर लेने में न्याय युक्त व्यवहार करे और प्रजा के प्रति पिता के समान व्यवहार करे। राजा को ब्राह्मणों की पूजा तथा सेवा करनी चाहिए।

राजा के विभिन्न कार्यो– सेना, कौष–संग्रह और दूत कार्य आदि के लिए अनेक प्रकार के अध्यक्ष नियुक्त करने चाहिए और उन अध्यक्षों को सब कार्यो को देख–रेख करनी चाहिए। राजा को युद्ध से डर कर नहीं भागना चाहिए। युद्धों में परस्पर प्रहार करने की इच्छा करते हुए और अपार शक्ति से युद्ध करते हुए राजा विमुख न होकर मरने के बाद स्वर्ग हो जाते हैं। राजा को अप्राप्त (न मिले हुए भूमि तथा स्वर्ण आदि) को पाने की इच्छा न प्राप्त भूमि आदि की रक्षा करनी चाहिए और रक्षित भूमि आदि को बढ़ाने व बढ़ाये हुए द्रव्य व भूमि आदि को सत्पात्रों में दान कर देना चाहिए। राजा दण्ड (शक्ति अर्थात् सेना) को तैयार रखे, अपने पुरूषार्थ (सैनिकादि शक्ति) प्रदर्शित करता रहे, गुप्त रखने योग्य विचारों एवं राज–कार्यों को सर्वदा गुप्त रखे और सदा शत्रु के छिद्र को देखता रहे। सर्वदा दण्ड (चतुरंगिणी सेना की शक्ति) से युक्त रखनेवाले राजा से संसार डरता रहता है, अतएव राजा को चाहिए कि वह सब लोगों को दण्ड द्वारा वश में रखे। राजा को मंत्री आदि के साथ निष्कपट बर्ताव करना चाहिए और स्वयं सब व्यवहार को गुप्त रखते हुए शत्रु के कपट को गुप्तचरों द्वारा मालूम करता रहे। राजा अविश्वासी पर विश्वास न करे, विश्वासी पर अधिक विश्वास न करेः बगुले के समान अर्थ चिंतन करें, सिंह के समान पराक्रम करे, भेड़िये के समान शत्रु को नाश करे और खरगोश के समान शत्रु के घेरे से निकल जाय।

जिस प्रकार किसान खेत में से घास निकालता है और धान्य को बचाता है, उसी प्रकार राजा को राज्य की रक्षा और शत्रुओं का नाश करना चाहिए। जो राजा मोह वश अपने राज्य की देख–रेख न करके धन ग्रहण करता है। प्रजा की रक्षा न करके भी अन्यायपूर्वक उनसे अनेक प्रकार का कर लेता है। (वह शीघ्र राज्य से पतित हो जाता है और बान्धव सहित जीवन से भ्रष्ट हो जाता है) मर जाता है। जिस प्रकार भोजनादिः के अभाव में शरीरधारियों के प्राण शरीर के क्षीण होने से नष्ट हो जाते है, उसी प्रकार राज्य को पीड़ित करने से राजाओं के प्राण (प्रकृति–कोष आदि से) नष्ट हो जाते है, अतः राजा का कर्त्तव्य है कि वह यथावत् राज्य की रक्षा करता रहे। राजा गाँवों व नगरों की सुव्यवस्था के लिए अनेक अधिकारी नियुक्त करे, स्वयं अनेक कार्यो का निरीक्षण करता रहे और दुतों (गुप्तचरों) द्वारा उनके व्यवहार को मालूम करता रहे। जो पापबुद्धि अधिकारी काम पड़ने वालों से अनुचित रूप में धन लें, राजा उनका सर्वत्र लेकर उन्हें राज्य के बाहर निकाल दे। प्रजा का पालन करना ही क्षत्रिय (राजा) का श्रेष्ठ धर्म है, क्योंकि प्रजापालन द्वारा शास्त्रोक्त फल को भोगनेवाला राजा धर्म से युक्त होता है। राजा को कार्य के अनुसार कठोर या मृद होना चाहिए। क्योंकि ऐसा ही राजा सबका प्रिय होता है।

मनुस्मृति (7:154) का यह महत्वपूर्ण आदेश है कि राजा अष्टविध धर्म, पंचवर्ग और राजमहल की चेष्टा पर ध्यान दे। अष्टविध धर्म (आठ प्रकार के कार्य) क्या है, इस बारे में टीकाकारों में मतभेद हैः स्वयं मनु ने इसका स्पष्टीकरण नहीं किया है। मेधातिथि का मत इस प्रकार है–

- जिस कार्य को आरंभ नहीं किया गया है उसे प्रारंभ करना।
- प्रारंभ किये हुए कार्य को पूर्ण करना,
- प्रारंभ किये हुए कार्य में विशेषता सम्पादित करना,
- किये हुए कार्य का फल संग्रह करना,

5–8. साम, दाम, भेद और दण्डः इन आठों के बारे में विचार करना। अथवा (1) व्यापारियों की सुविधा के लिए मार्ग निर्माण कराना, (2) जल में पुल बनवाना, (3) दुर्ग का निर्माण करना या कराना, (4) बने हुए की मरम्मत व संशोधन कराना, (5) खान खुदवाना, (6) शून्य (जनरहित) स्थान को बसाना, (7) हाथियों के पकड़वाने की व्यवस्था करना और (8) घने जंगल कटवाना, दूसरे टीकाकार कुल्लूक भट्ट के अनुसार ये कर्म इस प्रकार है–

1. कर ग्रहण करना, 2. पुरस्कार व दान देना, 3. अमात्य आदि को उचित आज्ञा देना, 4. अनुचित कार्यो का निषेध करना, 5. संदिग्ध विषय में निर्णय देना, 6. व्यवहार का देखना, 7. उचित दण्ड की व्यवस्था करना और 8. पाप कर्म की शुद्धि के लिए प्रायश्चित की व्यवस्था करना। इस प्रकार यद्यपि टीकाकारों में मन्तव्य नहीं है, यह कहना उचित है कि ये सभी कार्य राजा के कर्त्तव्यों में आते हैं।

पंच वर्ग का अर्थ कुल्लूकभट्ट ने पाँच प्रकार के गुप्तचरों से लिया है, जिन्हें छद्मवेष में गुप्त रीति से पता लगाने के लिए नियुक्त किया जाता था। इन गुप्तचरों की सूचना के संबंध में मंत्रणा अथवा विचार करना भी राजा के आवश्यक कार्यो में सम्मिलित था।[18] राजमण्डल के विषय में अन्यत्र विवेचन किया गया है।

याज्ञवल्क्य स्मृति के अनुसार राजा के विभिन्न गुण और कर्त्तव्य इस प्रकार हैं– राजा को महा उत्साही, कृतज्ञ (उपकार मानने वाला), वृद्ध सेवी, विनययुक्त, सत्य सम्पन्न, पवित्र, शीघ्र काम करनेवाला, स्मृतिमान् (जिसे बात न भूले), धार्मिक, अव्यसनी, पंडित, शूर और रहस्य जाननेवाला होना चाहिए। इन गुणों से युक्त होने के अतिरिक्त राजा को आत्म विद्या और राजनीति में निपुण तथा लाभ के उपाय और तीनों वेदों में प्रवीण होना चाहिए।[19] राजा अपने मंत्रियों अथवा ब्राह्मणों के साथ राजकाज देखे और फिर एकान्त में बैठकर अपने आप विचारे। उसको चाहिए कि ब्राह्मणों को सुख, भोग और धन देवे, क्योंकि राजा जो कुछ ब्राह्मणों को देता है वह उसकी अक्ष्य निधि (धन की खान) है।

जो धन नहीं मिलता है उसको धर्म से पाने का उपाय करे, जो मिल चुका है उसे यत्न से सुरक्षित करे, रक्षित धना को नीति से बढ़ाये और ज बवह बढ़े तो सत्पात्रों को दान करे। उसको चाहिए िकवह अपने जन, क्रोध और शरीर की रक्षा के लिए ऐसे स्थल पर दुर्ग बनवाये जो रमणीय हो, पशुओं को बढ़ाने वाला और जंगल युक्त हो। धर्म और अर्थ आदि कार्यो में उनके करने योग्य जो दूसरे कार्य न करें, अपने कार्य में चतुर और रूचि रखने वाले हों, आय और व्यय कर्म में उद्धृत (मुस्तैद) हों, ऐसे व्यक्तियों को ही राजा अधिकारी बनाये।

राजा का इससे बढ़कर कोई धर्म नहीं िकवह युद्ध में अर्जित धन से ब्राह्मण और अपनी प्रजा को सदा अभय रहे। जो भूमि के लिए युद्ध में सामने लड़ते हुए शस्त्रों से मारे जाते हैं, वे योगियों के समान स्वर्ग को प्राप्त होते हैं। प्रजा का परिपालन सब प्रकार के दान से बढ़कर है, इसलिए राजा को धर्मशास्त्र की विधि से प्रजापालन करना चाहिए। ऐसा राजा प्रजा के पुण्य का छठा भाग पाता है। छल करनेवालों, चोरों, शत्रुओं, और विशेषकर राजकाल करने वालों से पीड़ित प्रजा की रक्षा राजा को करनी चाहिए। प्रजा की रक्षा न करने से जो कुछ पाप प्रजा करती है, उसका आधा भाग राजा को जाता है, क्योंकि राजा को प्रजा से उसकी रक्षा के लिए ही कर मिलता है। राजा को चाहिए कि जो व्यक्ति राजकाल में नियुक्त हो, उनके आचरण के विषय में गुप्त दूतों से पता लगावे और भले कर्मचारियों का सम्मान करे तथा दुष्टों को दण्ड दें। जो कर्मचारी घुस लेते है, उनका सब धन छीनकर राजा को उन्हें राज्य से निकाल देना चाहिए और मान, दान व सत्कार करके श्रोत्रियों (वेद पाठियों) को अपने राज्य में बसाना चाहिए। जो राजा अपने राज्य में अन्याय करके धन–संग्रह करता है, वह थोड़े ही काल में अपने बन्धुओं समेत निर्धन होकर नष्ट हो जाता है, प्रजा की पीड़ा के संताप से उत्पन्न हुई आग राजा के धन, शोभा, कुल और प्राण जलाये बिना ठंडी नहीं होती।

उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट निष्कर्ष निकलता है कि राजा के गुणों व कर्त्तव्यों के विषय में मनु और याज्ञवल्क्य के विचारों में अधिकांशतः समानता है, अन्तर केवल यह है कि मनु ने इन बातों को याज्ञवल्क्य की अपेक्षा अधिक विस्तार के साथ दिया है। दोनों ही आचार्य यह मानते हैं कि राजा का सबसे महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्य दण्ड धारण कर प्रजा की रक्षा करना और दुष्टों को दण्ड देना है। मनु के अनुसार दण्ड ही धर्म है और दण्ड ही राजा है। दण्ड (अथवा धर्म) के द्वारा ही राजा सब प्रजा की रक्षा करता है और चारों आश्रमों में व्यक्तियों से अपने–अपने कर्त्तव्यों (धर्म) का पालन कराता है। जब सब सोये रहते हैं, दण्ड ही जागता रहता है। दण्ड के संबंध में याज्ञवल्क्य मनु के ही आधारभूत विचारों को दोहराता है। राज्य प्राप्त कर लेने पर राजा को दुष्टों को दण्डित करना चाहिए, क्योंकि ब्रह्मा ने प्राचीन काल में धर्म की उत्पत्ति दण्ड के ही रूप में की थी। जो व्यक्ति लालची है और जिसकी बुद्धि ठीक से निदेशित न हो, वह दण्ड का उचित रूप से प्रयोग नहीं कर सकता। जब दण्ड नियम के अनुसार दिया जाता है तो यह लोक में सभी को प्रसन्न करता है, परन्तु नियम विरूद्ध प्रयोग किये जाने पर दण्ड सभी को दुःखी बनाता है।

राजा की दिनचर्या आदि–मनुस्मृति में राजा की दिनचर्या का वर्णन इस प्रकार है– रात्रि के अंतिम पहर में उठकर व स्नानादि नित्यकर्म करके राजा हवन और ब्राह्मणों की पूजा पर शुभ सभा (मंत्रणा–गृह) में प्रवेश करे। वहाँ पर दर्शनार्थ उपस्थित प्रजा को (यथा योग्य किसी को भाषण से, किसी को प्रिय दर्शन से) संतुष्ट कर विसर्जित करे और उसके बाद मंत्रियों के साथ मंत्रणा (गुप्त परामर्श) करे। इसके बाद राजा (मुद्गर) या अन्य शस्त्र आदि के अभ्यास से व्यायाम कर दोपहर को स्नान कर भोजन करने के लिए, अन्तःपुर (रनिवास) में प्रवेश करे। वहाँ अपने तुल्य भोजन समय के ज्ञाता पाचक आदि से बनाये गये एवं परीक्षा किये गये आदि भोज्य पदार्थ का विषनाशक मंत्रों से भोजन करे। राजा अपने यान (रथ, गज, अश्व आदि सवारी) शय्या, आसन, भोजन, स्नान, प्रसाधन, लेपन और सब प्रकार के भूषणों के धारण करने में इसी प्रकार अच्छी तरह परीक्षा कर उन्हें अपने व्यवहार में लाने का प्रबन्ध करे। भोजन कर राजा रनिवास मेमं रानियों के साथ विचार (कीड़ा आदि) करे तथा यथा समय (दिन के सप्तम भाग में विहारकर) फिर (दिन में अष्टम भाग में) राजकार्यो का चिंतन करे।

राजा फिर अस्त्रधारी सैनिकों, हाथी–घोड़ा आदि वाहनों, सब अस्त्र–शस्त्रों और भूषणों का निरीक्षण करे। सायंकाल की संध्या और उपासना करके राजा दूसरे कक्ष के भीतर एकान्त स्थान में स्वयं शस्त्र को धारण कर गुप्त समाचारों की बतानेवाले गुप्तचरों के कामों को सुने और उसके बाद उन्हें विदा कर परिचारिकाओं से परिवृत होकर भोजन के लिए फिर अन्तःपुर में प्रवेश करे। रनिवास में बाजों के शब्दों से प्रहषित होकर फिर कुछ भोजन कर यथासमय सो जाये और श्रमरहित होकर शेष रात्रि में जग जाये। निरोगी राजा इन सब कार्यों को स्वयं करे। किन्तु अस्वस्थ होने पर हम सब कार्यो को प्रमुख मंत्रियों पर सौंपे। मध्याह्न या आधी रात में मानसिक खेद तथा शारीरिक खिन्नता से रहित होकर राजा मंत्रियों के साथ या अकेले ही धर्म, अर्थ और काम का चिन्तर करें।20

संक्षेप में, मनु ने राजा की दिनचर्या कुछ इस प्रकार विहत की है। सबेरे– (1) स्नान, ध्यान, अध्ययन और पूजा, (2) न्याय, जनता की शिकायतों पर निर्णय देना, (3) मंत्रियों के साथ मंत्रणा, (4) राज्य के परराष्ट्र मामलों के विषय में राजदूतों तथा गुप्तचरों के साथ परामर्श, (5) सैनिक मामलों के विषय में सेनापति के साथ परामर्श। मध्याह्न और रात्रि–(1) व्यायाम, स्नान, आराम और रनिवास के मामले, (2) सेना और युद्ध–सामग्री का निरीक्षण, (3) सायंकाल की प्रार्थना, (4) गुप्त परामर्श, (5) संगीत और सोना।[21] याज्ञवल्क्य के अनुसार राजा की दिनचर्या का वर्णन इस प्रकार है– देश और अपनी रक्षा करके प्रतिदिन प्रातःकाल उठकर राजा आय–व्यय अपने आप देखे, अनन्तर व्यवहार देखे, फिर स्नान करके यथारूचि भोजन करे।

तब हिरण्य आदि वस्तु लाने के लिए नियुक्त कर्मचारी जो वस्तु लावे उसको राजा आप देखकर भंडार में रखवा दें। फिर गुप्तचरों की बात आप ही सुन उनको देख और प्रकट दूतों को मंत्रियों के साथ उनकी बातें सुन उन्हें फिर भेजे। उसके बाद तीसरे पहर एकान्त में या मंत्रियों के साथ यथेष्ट बिहार करके अपनी सेना देखे और सेनापति के साथ सेना के सुख की चिंता करे। इसके बाद संध्योपासना करके दूतों का गुप्त भाषण सुने और नृत्य देख व संगीत सुनकर भोजन करे और फिर अध्ययन कर। तब गाजे–बाजे से सोवे और उसी प्रकार जागे तथा अपनी बुद्धि से शास्त्र और राजकार्यो का चिंतन करे। तब अपने और दूसरे राज्य में गुप्त दूतों को आदरपूर्वक भेजे। ज्योतिषी और वेद सेशुभाशुभ और अपनी देह का हाल पूछे, फिर गो, सोना, भूमि विवाद के उपयोगी धन और गृह आदि का दान देशपाठी ब्राह्मण को दें। युद्ध में राजा के कर्तव्य और आपधर्म– मनु के अनुसार प्रजा का पालन करता हुआ राजा समान, अधिक या कम बल वाले शत्रुओं से युद्ध के लिए ललकारने पर क्षत्रिय धर्म (क्षत्रिय का युद्ध से कभी विमुख न होने) को स्मरण करता हुआ युद्ध से विमुख न होवें। युद्ध से डरकर भागना राजा के धर्म का महत्त्वपूर्ण अंग है, युद्ध में शत्रुओं को मानते हुए राजा अपने धर्म को न छोड़े। मनुस्मृति में वर्णित राजा का आपधर्म इस प्रकार है– राजा को प्रजा के धान्य का छठा, आठवाँ और बारहवाँ भाग लेने का शास्त्र सम्मत विधान होने पर भी आपत्तिकाल में उतना कर लेने से राज्य–कार्य चलना असंभव होने पर प्रजा के धान्य का चौथा भाग लेता हुआ और यथाशक्ति प्रजा की रक्षा करता हुआ राजा अधिक कर लेने के पाप से छूट जाता है। विजय पाना राजा का अपना धर्म है, प्रजा की रक्षा करते हुए यदि राजा की कहीं से भय का कारण उपस्थित हो जावे तो भी उसे युद्ध से डरकर विमुख नहीं होना चाहिए और शस्त्रों से वैश्यों की रक्षा कर उनसे आगे कहे हुए धर्मयुक्त कर को ग्रहण करना चाहिए। आपत्तिकाल में राजा को वैश्य के धान्य में से आठवाँ भाग और विशेष आपित्तकाल में चौथा भाग और सोने–चाँदी में से (साधारणकाल में बीसवाँ भाग) आपत्तिकाल में पचासवाँ भाग कर लेना चाहिए।

क्या राजा निरंकुश है? मनु और याज्ञवल्क्य दोनों ने ही राजा को धर्म के अधीन रखा है और इस बात पर बल दिया है कि राजा सर्वथा प्रजा का पालन व उसकी रक्षा करे। राजा का प्रशिक्षण और उसकी दिनचर्या भी उसे स्वेच्छाचारिता अथवा निरंकुशता की ओर नहीं जाने दे सकते। राजा को देवी अथवा देवांश बताया गया है, किन्तु बल उसके देवत्व पर है न कि उसके अधिकार अथवा चाहे जिस प्रकार शासन करने पर। राजा चाहे बालक ही हो, उसे मनुष्य मानकर अपमानित नहीं करना चाहिए। मनु ने इस कथन से कुछ विचारों ने यह अर्थ लिया है कि यह राजा के लिए पूर्ण स्वतंत्रता का विधान है, यह राजा को स्वेच्छाचारी बनाता है, क्योंकि उसके ऊपर कोई नियंत्रण नहीं है। परन्तु अन्यत्र मदु ने धर्म और दण्ड को ही राजा कहा है।

इन दोनों प्रसंगों को सामने रखकर यह तर्क दिया जा सकता है कि मनु ने सर्वप्रथम राजा को निरंकुश राजसत्ता प्रदान की, परन्तु वाद में असीमित शक्ति का दुरूपयोग होने लगा तो मनुस्मृतिकार ने धर्म और दण्ड की कल्पना करके राजा की असीमित शक्ति को धर्म और दण्ड के अधीन कर दिया। अतः मैं दो विरोधीमत प्रतिपादित किये गये हें– एक असीमित राजतंत्र का और दूसरा सीमित राजतंत्र का। डॉ0 जायसवाल ने ''हिन्दू पालिटी' में ये विचार व्यक्त किये हैं। वास्तव में मनुस्मृति स्वतंत्र राजा की कल्पना नहीं करती। सभी लोकपालों के गुण राजा में होते हैः लोकपालों के अंशभूत होने के कारण वह साधारण प्राणियों से श्रेष्ठ समझा जाता है। यदि मनु अपने सिद्धान्त को यहीं तक सीमित कर देते तो यह कहा जा सकता था कि मनु ने राजा को ईश्वरांशभूत बनाकर जनसाधारण को मूक होकर उसकी आज्ञाओं का पालन करने का विधान किया। परंतु मनु ने इससे आगे चलकर राजा को अपने गुणों के अनुरूप आचरण करने का जो उपदेश दिया है, वही राजा की स्वेच्छाचारिता की सीमा बन जाता है, तथा वही राजा का धर्म बन जाता है। राजा इस धर्म का अतिक्रमण करने का अधिकार नहीं रखता, क्योंकि ऐसा करने से वह देवत्व से गिरता है। मनुस्मृति यह भी कहती है कि राजा के प्रजा रक्षण के प्रयोजन की सिद्धि के लिए दण्ड की सृष्टि की गयी। यह दण्ड ब्रह्मतेज से युक्त था अर्थात् इसकी भी ईश्वरीय सृष्टि थी तथा यह धर्म का रूप था। इसी दण्ड के भय से सभी प्राणी अपने स्वाधिकार के भोग में समर्थ होते थे और अपने धर्म से विचलित नही होते थे। मनु ने राजा के देवत्व के साथ–साथ कर्म को भी आवश्यक रूप से महत्त्व देकर उसके कर्मो को उसका धर्म बना दिया। राजा भी एक प्राणी है इसलिए उसके धर्म को भी अक्षुण्ण बनाये रखना दण्ड की सृष्टि का एक प्रयोजन कहा जा सकता है।[22]

मोटवानी ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि राजा को सदा ही यह समझना चाहिए कि वह धर्म के नियमों के अधीन है। कोई भी राजा धर्म के विरूद्ध व्यवहार नहीं कर सकता, धर्म राजाओं और मनुष्यों पर एक समान ही शासन करता है। इसके अतिरिक्त राजा राजनीतिक प्रभु जनता के भी अधीन है। वह अपनी शक्तियों के प्रयोग में जनता की आज्ञा पालन के लिए क्षमता से सीमित है। जो राजा जनता को सताता है, उसका जीवन और राज्य जनता छीन सकती है। मनु ने कुछ सीमा तक जनता की राजनीतिक प्रभुता को माना है। जनता को सभी प्रकार के कष्टों से रक्षा पाने का अधिकार है और राजा को कभी भी अपनी सत्ता की सीमाओं का उल्लंघन नहीं करना चाहिए।[23] डा0 जायसवाल ने भी स्वीकार किया है कि मानव धर्म ने पुराना स्थिति को अपना हैः केवल ऐसा ही राजा जो अभिषेक के समय ली गयी शपथ के प्रति ईमानदार और सच्चा है, शास्त्रों का अनुसरण करता है और मंत्रियों के साथ शासन करता है, दण्ड को धारण कर सकता है, ऐसा राजा नहीं जो स्वेच्छाचारी, लालची और मूर्ख हो।[24]

सलेटोर ने लिखा है कि मनु ने निःसंदेह यह कहा है। जनता राजा को गदी से उतार सकती है और उसे मार भी सकती है। जो राजा अपनी मूर्खता से प्रजा को बिना सोचे–समझे सताता है, उसे शीघ्र ही जनता उसके संबंधियों सहित राज्य और जीवन से वंचित कर देगी।''

''मनु और याज्ञवल्क्य'' नामक ग्रंथ में डॉ0 जायसवाल ने लिखा हैः राजस्व के विषय में हिन्दू सिद्धान्त यह है कि अति प्राचीन काल से राजा को जनता का सेव समझा गया है। मेधातिथि ने मानव धर्मशास्त्र के श्लोकों का स्पष्टीकरण करते हुए कहा है कि राजा के देवत्व संबंधी श्लोक केवल शब्द ही हैं, उनमें कानूनी शक्ति नहीं है। मनु के श्लोकों में उल्लिखित रजा के आदेश और कानून महत्त्वहीन मामलों से संबंध रखते हैं अन्य हिन्दू विचारक भी यह नहीं मानते कि हिन्दू राजा अनुत्तरदायी होते थे। याज्ञवल्क्य ने तो इस सिद्धान्त को माना ही नहीं है, वह तो राजा से कहता है कि उसके द्वारा किये गये अवैध कार्यो का परिणाम उसका सिंहासन से हटाया जाना है और राजा का सपरिवार राज्य से निष्कासन होगा, इतना ही नहीं राजा को अधिकतम दण्ड भी दिया जा सकता है।[25] उसी लेखक ने पुस्तक की भूमिका में दोनों की तुलना करते हुए भी कहा है कि याज्ञवल्क्य ने राजनीतिक आदर्शो के बारे मे मनु से ऊँचा स्तर अपनाया है। उदाहरण के लिए जबकि मानव धर्मशास्त्र में ''राजा की निरंकुशता'' का समर्थन किया गया है, याज्ञवल्क्य ने मनु की स्थिति को त्याग दिया है। मानव–धर्मशास्त्र तो मौर्यकालीन राजाओं की भाँति राजा को विधि निर्माण की आज्ञा नहीं देता। याज्ञवल्क्य राजा को कानूनों के स्रोतों में भी नहीं गिनता, यद्यपि उसने राजा द्वारा निर्मित कानूनों को माना है।[26]

5.4 शासन :

शासन के सिद्धान्त– मनु के अनुसार शासन का मुख्य ध्येय धर्म, अर्थ और काम की प्राप्ति में साधक होता है। अतएव शासन के अध्यक्ष राजा को मंत्रियों के परामर्श से इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए ही सर्वदा प्रयत्न करना चाहिए। मनु और याज्ञवल्क्य दोनों ही यम कहते हैं, जैसा कि पूर्वगामी ख डमें बताया जा चुका है कि राजा (शासन) को अप्राप्त (भूमि और धनादि) को प्राप्त करना चाहिए, जो कुछ प्राप्त हो गया है उसकी रक्षा करनी चाहिए जिसकी रक्षा की गयी है उसमें विभिन्न प्रकार से वृद्धि करनी चाहिए और जो कुछ वृद्धि हो उसे सुपात्रों को दान कर देना चाहिए। इस प्रकार राजा (शासन) की नीति चार सूत्री हुई–

- (मनु के अनुसार) शक्ति द्वारा और (याज्ञवल्क्य के अनुसार) वैद्य उपायों द्वारा प्राप्त अथवा अर्जित करना।
- रक्षण
- विभिन्न प्रकार अथवा नीति से वृद्धि, और
- सुपात्रों की वृद्धि का दान।

मनु और याज्ञवल्क्य दोनों ही कहते हैं कि राजा को पिता के तुल्य प्रजा का पालन करना चाहिए। राजा को आवश्यकता के अनुसार कठोर और मृदु होना चाहिए। राजा को चाहिए कि वह अपने राजा की रक्षा करे और शत्रुओं को नष्ट करे। राजा न्यायी हो और दुष्टों का दमन करे तथा उन्हें कठोर दण्ड दे। राजा को उचित कर ही वसूल करनी चाहिए, परन्तु आपत्ति

काल में करों का भाग बढ़ाया जा सकता है। राजा शासन का अध्यक्ष है, प्रायः सभी कार्यो में वह मंत्रियों तथा अन्य उच्च अधिकारियों से परामर्श करे और अधिकारियों के कार्यो का स्वयं निरीक्षण करे, क्योंकि निरीक्षण प्रशासन–तंत्र की आधारशिला है। राजा (शासन) को सभी प्रकार से सरकारी अधिकारियों में से भ्रष्टाचार का मूल्लोच्छेद करना चाहिए। मनु और याज्ञवल्क्य दोनों ही कहते हैं कि भ्रष्ट अधिकारियों की सम्पत्ति जब्त करके राजा उन्हें राज्य के निकाल दे। जो अधिकारी अपने कर्त्तव्यों का ठीक से पालन न करें उन्हें जुर्माने का दण्ड देना चाहिए। इस प्रकार सरकारी अधिकारी प्रजा की लूट–खसोट नहीं कर सकते थे।[27]

मंत्री–मनुस्मृति और याज्ञवल्क्य स्मृति में 'मंत्रि–परिषद' शब्द का उल्लेख नहीं किया गया है। मनुस्मृति में 'सचिव' और याज्ञवल्क्य स्मृति में 'मंत्री–शब्द का प्रयोग हुआ है। चूँकि मनुस्मृति में 'सचिवान शब्द बहुवचन में प्रयुक्त हुआ है। इसलिए उससे मंत्रि–परिषद् का ही अर्थ लिया जा सकता है। मनु और याज्ञवल्क्य दोनों ही राजा को उसके कर्त्तव्य में से एक कर्त्तव्य के रूप में मंत्रियों को नियुक्त करने का आदेश देते हैं। राज कुमार मुकर्जी ने इस विषय में लिखा है–'' राजा को राष्ट्र में सर्वोच्च स्थानीय और प्रजा का एकमात्र भोक्ता कहा गया है (5:94)। वह सचिवों की सहायता से, जो सहाय्य (सेक्रेटरीज) कहलाते थे (7:31,36), शासन करता है। सात या आठ मंत्रियों की परिषद, जिनका प्रधान मुख्यालय (7:58) कहलाता था, शासन में राजा की परामर्शदात्री थी। राजा अपनी प्रजा से सभा में मिलता था। (7:146)।[28] मंत्रियों की आवश्यकता के विषय में मनु ने कहा हैः सरल कार्य भी अकेले व्यक्ति के लिए कठिन होता है, अतएव महान फल को देनेवाला राज्य अकेले राजा से (बिना दूसरों की सहायता के) कैसे सुसाध्य हो सकता है? ऐसा कभी भी संभव नही हो सकता, अतः राजा को शासन–कार्यो के लिए मंत्रियों को नियुक्त करना चाहिए। राजा को वंशक्रमागत, शास्त्रज्ञाता, शूरवीर, शस्त्र चलाने में निपुण, उत्तम वंश में उत्पन्न और परीक्षित (शपथ ग्रहण आदि से परीक्षा किये गये) सात या आठ मंत्रियों को नियुक्त करना चाहिए।

राजा को चाहिए कि वह मंत्रियों के अभिप्राय को एकान्त में अलग–अलग तथा सभी के अभिप्राय को संयुक्त रूप में जानकर अपना हितकारी कार्य करें। राजा अपने मंत्रियों में से विद्धान धर्मादि, युक्ति विशिष्ट एक ब्राह्मण के साथ षड्गुण से युक्त श्रेष्ठ मंत्र (गुप्त विचार) की मंत्रणा (विचार–विनिमय) करे। उस ब्राह्मण (मंत्री) पर पूर्ण विश्वास कर राजा उस सब काम सौंप दे और उसकेसाथ निश्चय कर बाद में कार्य प्रारंभ करे। उसके अतिरिक्त दूसरे भी शुद्ध (वंश परंपरा से युद्ध या धूल आदि न लेने से शुद्ध हृदय वाले) बुद्धिमान, स्थिरचित (आपत्तिकाल में भी न घबराने वाले तथा दबाव या लोभ के सामने भी राजहित में ही दृढ़ रहनेवाले) सब प्रकार न्यायपूर्वक धन–धान्य उत्पन्न करनेवाले सुपरीक्षित मंत्रियों को नियुक्ति करना चाहिए। राजा का कार्य जितने व्यक्तियों से पूरा हो, आलस्य–रहित कार्य करने मे उत्सासी और काम के जानकर उतने ही व्यक्तियों को (मंत्रि–पद पर) नियुक्त करना चाहिए। उन मंत्रियों में से शूर, वीर, उत्साही, कुलीन मंत्रियों को धन–धान्य के संग्रह करने में (सोने आदि की खातों और अन्न–उत्पादक स्थानों में) तथा भीरू (करनेवाले) मंत्रियों को रनिवास, भोजन–गृह, शयन गृह में नियुक्त किया जाना चाहिए।

मंत्रणा– मनु के अनुसार पहाड़ पर या एकान्त प्रसाद (महल) में या निर्जन वन में राजा को दूसरों से अज्ञात होते हुए मंत्रियों के साथ मंत्रणा करना चाहिए। मंत्रणा के पाँच अंग होते है, यथा कार्यों के आरंभ करने का उपाय, पुरूष द्रव्य सम्पत्ति, देशकाल का विभाग, विनिपात का

प्रतिका आरैर कार्य–सिद्धि।[29] जिस राजा के मंत्र को दूसरे व्यक्ति नहीं जान पाते, कोष से हीन होने पर भी ऐसा राजा सम्पूर्ण पृथ्वी का भोग करता है। मंत्रणा के समय राजा को चाहिए कि जड़,मूक (गूंगे), बहरे, तिर्यग योनि में उत्पन्न (सुग्गा, तोता, मैना इत्यादि), अत्यन्त वृद्ध, स्त्री, म्लेच्छ, रोगी, व्यंग (कम से अधिक अंग वालों) को हटवा दें, क्योंकि ये सभी मंत्र का भेदन (अन्यत्र प्रकाश) कर देते हैं। मध्याह्न में या आधी रात को मानसिक खेद तथा शारीरिक खिन्नता से हीन होकर राजा उन मंत्रियों के साथ या अकेला ही धर्म, अर्थ और काम का चिंतन करे। याज्ञवल्क्य ने कहा है कि राजा ऐसे व्यक्ति को मंत्री बनाये जो पंडित, कुलीन धीर और पवित्र हो तथा उनके साथ राजकाज देखें और एकान्त में बैठकर अपने आप विचार करे।

मनु ने मंत्रियों के विषय में प्रायः वे सभी बातें दी हैं जो कि प्राचीन भारत में मान्यता प्राप्त कर चुकी थीं। उसने मंत्रियों की आश्ययकता पर बल देते हुए मंत्रणा के समय और स्थान को भी बताया है। साथ ही मंत्रणा की प्रणाली और विभागीय प्रथा की ओर भी संकेत किया है। सभी दृष्टियों से मंत्रियों संबंधी व्यवस्था काफी विकसित प्रतीत होती है। मंत्रियों में एक मंत्री प्रधानमंत्री जैसा बताया गया है, सब मंत्रियों में अधिक धर्मात्मा और बुद्धिमान ब्राह्मण (मंत्री) के साथ राजा षड्गुण युक्त परम मंत्र (सलाह) करे। विभिन्न मंत्री भिन्न–भिन्न विभागों के अध्यक्ष होने चाहिए, यथा युद्ध और शांति, आय, पुलिस, सार्वजनिक निर्माण कार्य आदि। मंत्र की पूर्णतया गुप्त ही रखा जाय अर्थात् गोपनीयता के सिद्धान्त पर विशेष बल दिया गया है।

अन्य अधिकारी– राजा, मंत्री और अन्य अधिकारियों से मिलकर कार्यपालिका पूर्ण होती है। मनु के अनुसार शासन की नीति को कार्यरूप देने तथा अनेक कार्यो को संचालित करने के लिए अधिकारियों की संख्या काफी बड़ी होनी चाहिए, जो राज्य की आवश्यकताओं के अनुसार निर्धारित होगी। अन्य अधिकारी भी ईमानदार, चरित्रवान, बुद्धिमान,अनुभवी और अनेक कार्यो में कुशल होने चाहिए। यह अतिआवश्यक है कि वे और उनके अधीन कर्मचारी किसी भी रूप में भ्रष्ट न हो। भ्रष्ट अधिकारियों के प्रति, जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है, राजा का व्यवहार अत्यन्त कठोर रहे। राजा उनके कार्यो के निरीक्षण करे तथा गुप्तचरों द्वारा पता लगाये। मंत्रियों के साथ ही मनु ने दुत के विषय में बताया है। राजा दूत ऐसे व्यक्ति को बनाये जो बहुश्रुत, हृदय के भाव, आकार व चेष्टाओं को जाननेवाला, अन्तःकरण का शुद्ध, चतुर, कुलीन, प्रीतिवाला, याद रखनेवाला, देश काल का जाननेवाला, निडर और बोलनेवाला हो। दूत राजा के असंतुष्ट तथा विरूद्ध लोगों में छिपे इंगित (इशारों) और काम व गतिविधि को जानने का प्रयत्न करे और भरण–पोषण योग्य पुरूषों में क्या करना चाहते हैं उसको जाने।

याज्ञवल्क्य के अनुसार राजा को ऐसे अधिकारी नियुक्त करने चाहिए जो धर्म और अर्थ आदि कार्यो में उनके योग्य हों, जो दूसरा काम न करें, अपने कार्यों में चतुर और रूचि रखनेवाले, आय (सोने की खान आदि) और व्यय (दान देना) कर्म में उद्यत (मुस्तैद) हों। सरकारी कर्मचारी युक्त कहलाते थे (8:34) उच्च विभागाधिकारी महामंत्र कहे जाते थे (9:259)। अन्य अधिकारियों में राजा के पुरोहित और दूतों का स्थान, जैसा स्वाभाविक ही है, महत्त्वपूर्ण है। परन्तु मनु स्मृति में पुरोहित का विशेष रूप से उल्लेख नहीं किया गया है। याज्ञवल्क्य ने इस विषय में कहा है कि राजा ऐसे व्यक्ति को पुरोहित बनावे जो ज्योतिष–शास्त्र जानते वाला, सब शास्त्रों से समृद्व, अर्थशास्त्रों में कुशल और शांति आदि अथर्वागिरस में निपुण हो। राजा श्रोत (अग्निहोत्र

आदि) और स्मार्त (उपासना आदि क्रिया करने) के निमित ऋत्विजों का वर्णन करे। मनु स्मृति में दूत के विषय में कहा गया है कि राजा सब शास्त्र के विद्वान, इंगित (वचन तथा स्वर आदि अभिप्राय–सूचक भाव), आकार (क्रमशः प्रेम एवं उदासीनता का सूचक), और चेष्टा (क्रोधादि का सूचक नेत्रों का लाल होना, भौंह टेढ़ा करना आदि)। (को जाननेवाले, शुद्ध हृदय, चतुर नेत्रों का लाल होना, भौंह टेढ़ा करना आदि) को जानने वाले, शुद्ध हृदय, चतुर तथा कुलीन दूत को नियुक्त करे। अनुरक्त, शुद्ध चतुर, स्मरण शक्ति वाला, देश और काल का जानकार, सुसा, निर्भय और वाग्मी राजदूत श्रेष्ठ होता है। राजा संधि, विग्रह आदि षड्गुण तथा समय को जाननेवाले, समर्थ, आयति (आनेवाला समय) में समर्थ और धर्म, अर्थ काम से शत्रुओं के द्वारा अपने पक्ष में न किया जा सकने वाले व्यक्तियों को राजदूत बनावे। राजदूतों में अन्य गुण ये होने चाहिए– अपना पक्ष प्रबल करने के लिए सब शास्त्रों, का ज्ञान, निर्लोभ, धर्मयुक्त, कार्य करने में अत्यन्त चतुराई, अनेक लिपियों का ज्ञान, विश्वास पात्रता, अवसर न चूकना आदि।

प्रादेशिक प्रशासन– भूमिगत आधार पर मनु ने राज्य को दो भागों– पुर (अथवा दुर्ग) और राष्ट्र में विभाजित किया है। पुर अथवा दुर्ग से अर्थ राजधानी का है। राजधानी का नगर कहा जाना चाहिए इस विषय में मनु का मत इस प्रकार है– जिस भू–भाग में अनेक प्रकार के वृक्ष, घास, जल, धान्य आदि को उपज की पूरी सुविधा हो, जहाँ आर्यजन वास करते हों, जो रोगादि उपद्रवों से रहित हों, देखने में रमणीय, वीर पुरूष युक्त, हर प्रकार से सम्पन्न और स्वावलम्बी हो। राजा के निवास योग्य दुर्ग छः प्रकार के हो सकते हैं– धन्वदुर्ग, महिदुर्ग, जल–दुर्ग, वृक्ष दुर्ग, मनुष्य दुर्ग और गिरिदुर्ग। राजा को इनमें से किसी एक प्रकार के दुर्ग का आश्रय लेकर बसाना चाहिए । राजा सब प्रयत्न से गिरि दुर्ग का आश्रय ग्रहण करे, क्योंकि इन दुर्गों में से गिरि दुर्ग अधिक गुणयुक्त होने से श्रेष्ठ होता है। दुर्ग की महिमा बताते हुए मनु कहते हैं कि जैसे मृग, मूषक (बिलों में रहने वाले चूहे, खरगोश आदि) जलजन्तु, बानर, मनुष्य और देवगण अपने दुर्गों में रहकर अपनी रक्षा करने में समर्थ होते हैं और उनके शत्रु सरलता से उन्हें नहीं मार सकते। उसी प्रकार दुर्ग का आश्रय ग्रहण करने वाला राजा को मारने में उसके शत्रु समर्थ नही हो सकते। दुर्ग में एक धनुर्धारी, योद्धा 100 के विरूद्ध युद्ध कर सकता है और 100 धनुर्धारी 10 हजार धनुर्धारियों से युद्ध करने में सफल हो सकते हैं, इसीलिए राजा को दुर्ग में रहना चाहिए। राजा जिस दुर्ग में निवास करे, उस दुर्ग को आयुद्ध (शास्त्रों), धन–धान्य, वाहन, ब्राह्मणों, शिल्पियों, यंत्रों, सुन्दर जल और ईंधनादि से सुसम्पन्न रखना चाहिए। उस दुर्ग के मध्य में भली प्रकार से पर्याप्त (अन्तःपुर, देवागार, आयुधागार आदि) आवश्यक भवनों से युक्त राजा का वास स्थान (राजगृह) होना चाहिए। यह गृह सब ऋतुओं के फल, पुष्प आदि वाले वृक्षों एवं स्वच्छ जल से युक्त होना चाहिए। पुर में शासन–संबंधी सभी कार्यालय एवं तत्संबंधी अन्य आवश्यक संस्थाएँ भी निर्मित होती थीं। याज्ञवल्क्य ने भी कहा है कि अपने जन, क्रोध और शरीर की रक्षा के लिए राजा ऐसे स्थान पर दुर्ग बनावे जो कि रमणीय हो, पशुओं को बढ़ानेवाला, कन्दमूल आदि से मनुष्यों के जीवन में सहायता देनेवाले जंगल (वन) से घिरा हो।

राष्ट्र में शासन–व्यवस्था को सुचारू रूप से संचालित करने के लिए उसे छोटी और बड़ी बस्तियों तथा क्षेत्रोां में विभाजित किया जाना चाहिए। मनुस्मृति में 1 ग्राम, 10 ग्राम, 100 ग्राम और 1,000 ग्रामों के पृथक–पृथक संगठनों की व्यवस्था की गयी है। शासन की सबसे छोटी इकाई ग्राम है, 10, 20, 100 और 1000 ग्रामों के अलग–अलग अधिकारी नियुक्त किये जाने

चाहिए। प्रत्येक ग्राम का अधिकारी ग्रामिक कहलाता है। ग्रामिक को ग्राम में शान्ति और व्यवस्था बनाये रखनी चाहिए और ग्राम में उत्पन्न होनेवाली भोग की समस्त सामग्री में से राजांश का संचय कर उसको 10 ग्राम के अधिकारी के पास भेजना चाहिए। 10 ग्रामों के संगठन का अधिकारी दस ग्राम पति के नाम से संबोधित किया गया है। उसके क्षेत्र में आनेवाले ग्रामों के ग्रामिक उसके अधिन रहेंगे। दस ग्राम पति के वेतन के संबंध में बताया है कि उसे एक कुल का भोग करना चाहिए। इसी प्रकार 20, 100 और 1000 ग्रामों के अधिकारियों को क्रमशः विशती, शाताध्यक्ष (शती), सहस्त्रपति कहा गया है। इन अधिकारियों के कर्त्तव्य और व्यवहार अपने–अपने अधीन तथा ऊपर के अधिकारियों के प्रति वैसे ही होने चाहिए जैसे ग्रामिक के दस ग्राम पति के प्रति। इनके वेतन के विषय में बताया गया है कि विंशती को पाँच कुल के, शती को एक ग्राम की ओर सहस्त्रपति को पुर के भोग का अधिकार मिलना चाहिए। राष्ट्र में ग्रामों के अतिरिक्त नगर भी होते थे, किन्तु उनकी संख्या कम होती थी। प्रत्येक नगर में स्वार्थ चिन्तक नाम के अधिकारी की नियुक्ति की व्यवस्था की गयी है। जैसा कि उसके नाम से स्पष्ट है उसका कर्त्तव्य अपने अधीन प्रजा–समूह के समस्त अर्थों का चिन्तन करना और उनका सिद्धि के लिए सर्वदा प्रयत्न करना रहा होगा। उसे अपने क्षेत्र के अन्य कर्मचारियों के कार्यो एवं आचरण का निरीक्षण करना चाहिए और दुष्ट एवं धन लोलुप कर्मचारियों से प्रजा की रक्षा करनी चाहिए।

परिषद् या विधायिका– उपर्युक्त कार्यपालिका के विभिन्न अंगों के साथ–साथ मनु ने विधायिका की भी व्यवस्था दी है। मनुस्मृति में 'परिषद' शब्द प्रयुक्त हुआ है, जिसका अर्थ ऐसे विद्वान व्यक्तियों से है जो तीनों वेदों के ज्ञाता हो। एक ऐसा व्यक्ति जो ऋग्वेद का ज्ञाता हो, एक वह जो यजुर्वेद का ज्ञाता हो और एक वह जो सामवेद का ज्ञाता हो, कम से कम ऐसे तीन व्यक्तियों से मिलकर एक सभा बनेगी जो कानूनी संबंधी संदेह की बातों पर निर्णय देगी।[30] इस विषय में मोटवानी ने लिखा है– विधायिका ऐसे बुद्धिमान व्यक्तियों से मिलकर बननी चाहिए जिन्होंने वेदों और टीकाओं का अध्ययन किया हो और जो अपने तर्कों के समर्थन में बुद्धियुक्त प्रमाण देने की योग्यता रखते हों। मनु ने विधायिका की रचना विशद् रूप से दी है। उसके अनुसार सदस्यों की संख्या दस होनी चाहिए किन्तु रचना का आधार बौद्धिक योग्यता रहे न कि संख्या। तीन व्यक्तियों में से प्रत्येक एक–एक वेद का ज्ञाता हो, एक निर्वक्ता, एक मीमांसा का, एक निरूक्त और एक धर्मशास्त्र का कहनेवाला और तीन व्यक्ति मुख्य व्यवसायों के। परन्तु ऐसे दस व्यक्ति न मिलें तो तीन ही काफी हैं और यदि वह वेदों का ज्ञाता हो और उनका निर्वचन कर सके। ऐसा एक ही व्यक्ति राष्ट्रीय नीतियाँ निर्धारित करने के योग्य है।[31]

परिषद् में तीन से दस तक सदस्य होते थे– दस सदस्यों में तीन वेदों के, एक तार्किक, एक मीमांसक, एक नेरूक्त, एक धर्म पाठक और तीन सदस्य तीन आश्रमों (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ) के लिए जाते थे (2'6'12:110–12)। दूसरी बात यह है कि जनता अपनी संघीय संस्थाओं के द्वारा अपने लिए स्वयं नियम बनाने में स्वतंत्र थी। कुल जाति, श्रेणी और जनपद इस प्रकार की संस्थाएँ थीं। राजा का कर्त्तव्य था कि वह उन नियमों पर अपनी स्वीकृति की छाप लगाकर उनका पालन कराये जिन्हें ये स्वायत संस्थाएँ, जातियाँ और संघ अपने लिए बनाते थे। विभिन्न जनपदों के धर्मों या सामयाचारिक नियमों का भी राजा पालन कराता था। इन आधारों पर यह कहा जा सकता है कि मनुस्मृति की शासन–पद्धति में जनतांत्रीय प्रवृतियाँ थीं।

यद्यपि याज्ञवल्क्य ने राजतंत्र और शासन के विषय में कुछ नहीं कहा है, फिर भी उसके ग्रन्थ में अनेक जन–संस्थाओं के नाम आये हैं, जाो राष्ट्रीय हित के कितने ही विभिन्न क्षेत्रों में जन–शासन का प्रतिनिधित्व करती थी। ग्राम संस्था को समूह कहा गया है, जिसके अधिकारी कार्य चिन्तक कहे गये हैं और जो धर्मज्ञ, शुचि और अलुब्ध होते थे। समूह के कार्य में जो कुछ उपार्जित किया जाय, उसे यथावत अर्पित कर देना चाहिए। जो ऐसा नहीं करता उसे उस धन का ग्यारह गुना दण्ड दिलवाना चाहिए। संघ के लिए गण शब्द है। उसका विधान संवित् कहलाता था। उसका उल्लंघन करनेवाले का सर्वस्व हरण करके उसे राष्ट्र से प्रवाहित कर देना चाहिए। ये स्वायत संस्थाएँ उत्तरोत्तर क्रम से इस प्रकार थीं– कुल, जाति, श्रेणी, गण और जनपद। इनमें से प्रत्येक अपने लिए नियम बनाता था और राजा भी उनके धर्मो का सम्मान और स्थापना करके उनसे उनका प्रतिफलन कराता था। कुल और श्रेणी न्याय–सभा का कार्य भी करती थी, जिनमें कुल श्रेणी की अपेक्षा छोटा था और इन दोनों से उच्च न्याय–सभी पूग की थी। श्रेणी भिन्न–भिन्न जातियों के ऐसे व्यक्तियों की सभा थी, जो एक पेशा या धंधा करते थे, किन्तु पूग एक स्थान की सब जातियों और धंधों का प्रतिनिधि होता था। अतएव उसका अधिकार सर्वोपरि था।[32]

5.5 न्याय–व्यवस्था :

मनुस्मृति के अनुसार राजा की कार्य–सिद्धि के लिए भगवान ने समस्त जीवों के रक्षक, धर्म स्वरूप पुत्र, ब्रह्मा के तेजोमय दण्ड की सृष्टि की। दण्ड के भय से स्थावर तथा जंगम सभी जीव अपने–अपने भोग को भोगने के लिए समर्थ होते हैं और अपने–अपने धर्म (राज–नियम) से विचलित नहीं होते। राजा को चाहिए कि वह देश,काल, दण्ड–शक्ति और विद्या (जिस अपराध के लिए जो दण्ड उचित हो उसका ज्ञान) का ठीक–ठीक विचार कर अन्यायवर्ती (अपराधी) व्यक्तियों के लिए शास्त्रानुसार दण्ड का प्रयोग करे अर्थात् अपराधियों की उचित दण्ड है। दण्ड ही राजा है, क्योंकि दण्ड में ही राज्य करने की शक्ति है, दण्ड पुरूष है और अन्य सभी व्यक्ति दण्ड के शासनाधीन होने से स्त्री–तुल्य है, दण्ड नेता है (उसके द्वारा ही सब कार्य यथावत् प्राप्त होते हैं), दण्ड शासन करनेवाला है और दण्ड चारों आश्रमों के धर्म का प्रतिभू है। दण्ड ही सारी प्रजा पर शासन करता है और दण्ड ही सबकी रक्षा करता है, सबके सोते रहने पर दण्ड जागता रहता है, विद्वान लोग दण्ड को धर्म का हेतु समझते हैं। शास्त्रानुसार यथावत् विचार कर दिया गया दण्ड सब प्रजा को अनुरक्त करता है और बिना विचार किये धन–लोभ या प्रसाद से दिया गया दण्ड सब प्रकार से धन–जन का नाश करता है। यदि राजा अपराधियों को दण्ड न दे तो बलवान लोग दुर्बलों को वैसे ही पकाने लगे जैसे मछलियों को लोहे के छड़ में छेद कर पकाते हैं। सब लोग दण्ड से जीते गये हैं और दण्ड के भय से ही सम्पूर्ण संसार भोगने के लिए समर्थ होता है। दण्ड के अभाव अथवा अनुचित प्रयोग सब वर्ण दूषित हो जाय, सब मर्यादा छिन्न–भिन्न हो जाय और सब लोगों में क्षोभ उत्पन्न हो जाय।

दण्ड का यथा योग्य प्रयोग करता हुआ राजा त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ और काम) से समृद्धियुक्त होता है और इसके विपरीत विषयाभिलाषी, क्रोधी, क्षुद्र राजा दण्ड के द्वारा ही मारा जाता है। असहाय, मूर्ख, लोभी शास्त्र ज्ञानहीन और विषयों में आसक्त राजा के द्वारा न्यायपूर्वक दण्ड प्रयोग नहीं किया जा सकता। अच्छे सहायकों वाला और बुद्धिमान राजा ही दण्ड का उचित प्रयोग कर सकता है। राजा को चाहिए कि राज्य में न्यायानुसार दण्ड प्रयोग करे, शत्रुओं के

देश में कठोर दण्ड का प्रयोग करे, स्वाभाविक मित्रों में सरल व्यवहार करे और छोटे अपराध करने पर ब्राह्मणों में क्षमा को धारण करे। इस प्रकार न्यायपूर्ण व्यवहार (दण्ड प्रयोग) से राजा का संसार में यश फैलता है।[33]

याज्ञवल्क्य ने दण्ड और न्याय के विषय में अग्रलिखित विचार व्यक्त किये हैं। सप्तांग राज्य पाकर राजा दुष्टों को दण्ड दे, क्योंकि पूर्वकाल में ब्रह्मा ने दण्ड रूप से धर्म का बनाया। जो (राजा) लोभी और अंचल बुद्धि होता है, वह न्याय से दण्ड नहीं चला सकता, किन्तु जो सच्चा पवित्र (जितेन्द्रिय), अच्छे सहायकों से युक्त और बुद्धिमान होता है, वह न्याय से चलता है। जो शास्त्र की विधि से दण्ड का प्रयोग करता है, वह देवता है, उससे असुर और मनुष्य सहित सब जगत को आनन्द होता है। इससे अन्यथा चलने पर सभी कोप करते हैं। अधर्मदण्ड देने से राजा का स्वर्ग, कीर्ति और लोक नष्ट होता है, परन्तु विधिपूर्वक दण्ड देने से उसको स्वर्ग, कीर्ति और जय की प्राप्ति होती है। जो राजा दण्ड–योग्य मनुष्यों को दण्ड देता है और वध के योग्य मनुष्यों को मारता है वह बड़े यज्ञों का फल पाता है। कुल, जाति, गण और जनपद में से जो भी अपने धर्म से विचलित हो राजा उन्हें यथोचित दण्ड देकर फिर से निज धर्म में स्थापन करे। दण्ड चार प्रकार के होते हैं– धिग्ददण्ड, वादण्ड, धनदण्ड और वधदण्ड। जिसका जैसा अपराध हो, उसे सोच–विचारकर, वह जितने दण्ड के योग्य हो, उतना ही दण्ड दिया जाये।[34]

कानून के स्रोत आदि– मनु के अनुसार धर्म (कानून) का सबसे महत्त्वपूर्ण स्रोत वेद है, अन्य स्रोतों में स्मृतियाँ, वेदों में सज्जनों का आचार और स्वसंतोष आते हैं। याज्ञवल्क्य ने भी चार स्रोत माने हैं, किन्तु थोड़े से अन्तर के साथ–वेद, स्मृतियाँ, सज्जनों का आचार और सुनिश्चित से उत्पन्न होने वाली इच्छा।[35] मनु आगे कहता है कि जहाँ धर्मो को स्पष्ट न किया गया हो, शिष्ट ब्राह्मणों के मत को धर्म रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए। दस अथवा तीन अथवा एक ही वेदों के ज्ञाता ब्राह्मण से बनी परिषद् जिस बात को धर्म घोषित करे, उसे स्वीकार कर लेना चाहिए। याज्ञवल्क्य भी यही कहता है कि धर्म के पण्डित तीन या चार ब्राह्मणों से बनी परिषद् अथवा एक ही श्रेष्ठ विद्वान् ब्राह्मण जिसे धर्म घोषित करे उसे धर्म स्वीकार करना चाहिए। इसके साथ ही याज्ञवल्क्य का यह भी कथन है कि जब दो स्मृतियों में मतभेद हो तो व्यवहार पर आधारित न्याय मान्य होगाः परन्तु धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र में मतभेद होने पर धर्मशास्त्र का मत अधिक मान्य होना चाहिए।

मनुस्मृति में वर्णित न्याय–व्यवस्था इस प्रकार हैः व्यवहार अर्थात् मुकदमों के देखने का इच्छुक राजा ब्राह्मणों तथा मंत्रियों के साथ नम्र भाव से राजसभा में प्रवेश करे। राजा वहाँ पर बैठकर या खड़ा होकर दाहिने हाथ को उठाकर विनम्र ढ़ंग से कार्यार्थियों के कार्यों को देखे। जो कोई हिंसा करता है तथा देय (देने योग्य धन अथवा भूमि आदि) नहीं देता है, ये दो विवाद के स्थान है और वे अठारह प्रकार के है– (1) ऋण लेना, (2) धरोहर रखना, (3) किसी वस्तु या भूमि आदि का स्वामी न होने पर भी उसे बेच देना, (4) अनेक व्यक्तियों आदि का मिलकर व्यापार आदि करना, (5) दान आदि में दी गयी सम्पत्ति को वापस ले लेना, (6) नौकरों का वेतन या मजदूरों को मजदूरी न देना, (7) पूर्व निर्मित व्यवस्था (संधि पत्र आदि) को न मानना, (8) क्रय–विक्रय में विवाद पैदा होना, (9) स्वामी तथा रखवाली करनेवाले में विवाद होना, (10) सीमा के विषय में विवाद होना, (11) दण्ड–प्रारूष्य (मारपीट करना), (12) वाक्पारूष्य (अनाधिकार गाली देना), (13) चोरी करना, (14) अति साहस करना (डाका डालना), (15) स्त्री

का पुरूष के साथ संभोग आदि करना, (16) स्त्री–पुरूष का धर्म, (17) पैतृक सम्पत्ति या भूमि का बँटवारा करना और (18) जुआ आदि खेलना। मनुस्मृति में वर्णन है कि यदि राजा स्वयं विवादों का फैसला न करे तो उस कार्य को देखने के लिए किसी विद्वान ब्राह्मण को नियुक्त करे। राजा के द्वारा नियुक्त ब्राह्मण भी तीन सदस्यों (धार्मिक एवं कार्यज्ञ ब्राह्मणों) के साथ ही न्यायालय में जाकर आसन पर बैठकर या खड़ा होकर विवादों का निर्णय करे। उस स्थान (न्यायालय) को 'सभा' कहा गया है। जिस सभा में धर्म–अधर्म से पीड़ित होकर रहता है अर्थात् असत्य बात कहकर सत्य को छिपाया जाता है, सभा में न्यायाधीश रूप से स्थित ब्राह्मण ही अधर्म रूपी शल्य से पीड़ित होते हैं। अतएव या तो सभा में जाना ही नहीं चाहिए, या जान पर सत्य ही बोलना चाहिए। जिस सभा में सभासदों (न्यायाधीशों) के सामने धर्म–अधर्म से तथा सत्य असत्य से पीड़ित होता है अथवा छिपाया जाता है उस सभा में वे सदस्य ही पाप से नष्ट होते हैं। व्यवहार (मुकदमे) को ठीक न देखने पर अधर्म करने वाले, साक्षी (गवाह), सदस्यों और राजा में से प्रत्येक को अधर्म का एक–दो–थाई भाग मिलता है। जिस सभा में निन्दनीय अर्थो तथा प्रत्यर्थी न्यायपूर्वक दण्डित होते है, उस सभा में पापकर्ता ही पाप का भागी होता है और राजा तथा सभासद को दोष नहीं लगता।

मनु के अनुसार सभासद् ब्राह्मण होने चाहिए, किसी भी दशा में शुद्र नहीं होने चाहिए। सभासद ऐसे व्यक्ति हों जो बाहरी चिन्हों से, स्वर, वर्ण (मुख का उदास या प्रसन्न होना), इंगित (सामने देख सकना), आकार (कम्पन्न), रोमांच आदि का होना और चेष्टित से (हाथों को मसलना, अंगों को मरोड़ना आदि) से मनुष्यों के भीतरी भावों को जान सके। धर्मज्ञ (राजा) जातिधर्म, देशधर्म श्रेणी धर्म आर कुलधर्म को देखकर तदनुसार उनके अपने–अपने धर्म की व्यवस्था करे। राजा सत्य से युक्त व्यवहार को, अपने को, साक्षियों को और देश, काल के अनुसार स्वरूप को देखे। सज्जन एवं धार्मिक ब्राह्मणों ने जिसका पालन किया हो, राजा देश, कुल तथा जाति के अनुसार व्यवहार का निर्णय करे।

अभियोगों को सिद्ध करने के लिए तीन प्रकार के मानुष प्रमाण होते हैं– लिखित, भुक्ति और साक्षी। दिव्य प्रमाणों का प्रयोग उस अवस्था में किया जाना उचित समझा जाता है कि जबकि मानुष प्रमाणों का प्रयोग अभाव हो आँख से देखने और कान से सुनने से साक्ष्य सिद्ध होता है, जैसा देख और सुना हो उसी प्रकार सत्य कड़वे वाला साक्षी धर्म और अर्थ से पतित नहीं होता है। साक्षी ऐसे व्यक्तियों को बनाया जाय तो सदाचारी हो, साक्षी को उसी स्थान का निवासी होना चाहिए, जहाँ कि घटना घटी हो। इसके अतिरिक्त साक्षी सर्वधर्मविद अर्थात् देशधर्म, जाति धर्म, श्रेणीधर्म, गुणधर्म और कुलधर्म आदि का ज्ञान होना चाहिए। लोभरहित एक ही साक्षी माना जा सकता है, परन्तु स्त्रियाँ बहुत और पवित्र भी हो तो भी नहीं क्योंकि स्त्री की बुद्धि स्थिर नहीं होती। किन्तु जहाँ विधिवत् साक्ष्य प्राप्त न हो सके वहाँ स्त्री, बालक, वृद्ध, शिष्य, बन्धु और नौकर–चाकर की भी साक्ष्य ग्रहण की जा सकती है। यदि साक्षी झूठी साक्ष्य दे तो उसको दण्डित किया जाना चाहिए और साक्षी के अतिरिक्त तीसरा मुक्त प्रमाण होता है, जिसका अर्थ इस प्रकार है– यदि किसी वस्तु को दूसरा व्यक्ति दस वर्ष तक भोगता रहे और उसका स्वामी मौन बैठा रहेतो वह वस्तु भोग करने वाले को हो जाती है। ऐसे ही यदि कोई व्यक्ति पागल अथवा बालक न हो और फिर भी उसके समक्ष उसकी किसी वस्तु को कोई दूसरा व्यक्ति भोगता रहे तो उस पर भोक्ता का अधिकार माना जायेगा। दिव्य प्रमाण की आवश्यकता उस समय पड़ती है जबकि मानुष प्रमाण विफल हो जाय। इनमें शपथ लेना, तप्त अग्नि को ग्रहण करना, जल में डुबानाआदि सम्मिलित है।

मानव धर्मशास्त्र में व्यवहारों के पुनश्चिन्तन की व्यवस्था भी दी गयी है। यदि व्यवहार, अवलोकन कार्य में मंत्री अथवा प्राड्विवाक (वह अधिकारी जिसका कर्त्तव्य अर्थो, प्रत्यर्थी एवं साक्षी आदि से प्रस्तुत विवाद संबंधी वांछनीय सामग्री को उनसे प्राप्त करना है) ने भूल की है अथवा गलत निर्णय किया है तो उस व्यवहार को राजा को स्वयं फिर से अवलोकन करना चाहिए।

याज्ञवल्क्य ने कुछ अधिक विस्तार के साथ चार प्रकार के न्यायालयों का उल्लेख किया है, उसने व्यवहार के निरायिकर्ताओं को चार श्रेणियों में रखा है– राजा द्वारा नियुक्त अधिकारी (सभा), पूग, श्रेणी, तथा कुल[36] याज्ञवल्क्य का आगे कथन है। विद्वान ब्राह्मणों के साथ क्रोध और लोभ छोड़कर धर्मशास्त्र के अनुसार राजा व्यवहारों को देखे। राजा ऐसे व्यक्तियों को सभासद बनाये जो वेद और मीमांसा आदि शास्त्र पढ़े हों, धर्म जान, सच बोलें और शत्रु व मित्र को समान माने। यदि राजा किसी कार्यवश स्वयं व्यवहार न देख सके तो सभासदों के साथ सब धर्म जाननेवाले ब्राह्मण को नियुक्त कर दे।

किसी की प्रीति, लोभ या डर से यदि कोई सभासद धर्मशास्त्र के विरूद्ध काम करें तो जितने का वह व्यवहार हो राजा उससे दूना दण्ड प्रत्येक सभासद से ले। सभासदों को योग्यता के प्रसंग में याज्ञवल्क्य ने किसी भी वर्ग–विशेष का उल्लेख नहीं किया हैः संभवतः उसने यह अधिकार किसी भी वर्ग के विद्वान, धर्मज्ञ, सत्यवादी, शत्रु–मित्र में समभाव रखने वालों को प्रदान किया है। जो अर्थी ने निवेदन किया हो तो प्रत्यर्थी के समक्ष वर्ष, महीना, पक्ष, दिन, नाम और जाति आदि से चिन्हित करके लिखा जाय। प्रत्यर्थी ने जो बात सुनी हो उसका उत्तर वह अर्थी के सामने लिखावे, तब अपने निवेदन को सिद्ध करने वाली जो बातें हो, उन्हें अर्थी शीघ्र लिखावे, निवेदन के प्रमाण से सिद्धि हो जाय तो अर्थी जीतता है। जब दो स्मृतियों (धर्मशास्त्रों के वचन)का आपस में विरोध दीख पड़े तो बड़ों के व्यवहार के अनुसार उन दोनों का विषय अलग कर देने का न्यायवाली होती है। तीन मानुष प्रमाणों–लिखित, भुक्ति और साक्षी– में से जब को ने हो सके तो किसी दिव्य शपथ का आश्रय लेना चाहिए। वेद और धर्मशास्त्र के अनुसार चलनेवाली ऐसे तीन से अधिक साक्षी बनाये जाये। वादी और प्रतिवादी मानें तो एक मनुष्य भी साक्षी हो सकता है। साक्षियों को बताया जाय कि झूठा साक्ष्य (गवाही) देने पर वही पाप लगता है जो आग लगाने वाले, स्त्री और बालक के वध कराने वाले को लगता है।

कानून में ब्राह्मणों और शुद्रों की स्थिति– दोनों ही धर्मशास्त्रों के अनुसार कानून में ब्राह्मणों की स्थिति महत्त्वपूर्ण है। मानवधर्मशास्त्र में ब्राह्मणों को वह विशेषाधिकार प्राप्त है, जिसके कारण उन्हें महापराध करने पर भी दण्ड से बाहर रखा गयाहै। उसे बिना शारीरिक आघात या घाव पहुँचाये और अपनी सम्पत्ति के साथ, देश छोड़कर जाने की अनुमति है, ऐसे सिद्ध अभियोगों में भी जिनके लिए मृत्यु दण्ड की व्यवस्था है। उसे न तो शारीरिक दण्ड दिया जा सकता है और न ही उसकी सम्पत्ति जब्त की जाती है। इसके अतिरिक्त सभा (न्यायालय) में ब्राह्मण के लिए न्यायाधीश के रूप में स्थान अवश्य रखा गया है। मानवधम–शास्त्र में यह तो नहीं कहा गया है कि कण्टक–शोधन न्यायालयों का प्रधान न्यायाधीश ब्राह्मण हो। इसके विपरीत मानवधर्म–शास्त्र के अनुसार कानून में शुद्र की स्थिति बड़ी खराब है। मनु का दृष्टिकोण विशेष रूप से विद्वान शुद्रों के प्रति शत्रुतापूर्ण है। याज्ञावल्क्य स्मृति में अप्रत्यक्ष ढ़ंग से शुद्रों के समता एवं स्वतंत्रता संबंधी दावे को स्वीकार किया गया है।[37]

5.6 कर–व्यवस्था :

मनु के सिद्धान्त– जिस प्रकार जोंक बछड़ा और मधुमक्खी थोड़े–थोड़े अपने–अपने खाद्य (क्रमशः) रक्त, दूध और मधु को ग्रहण करता है, उसी प्रकार राजा को प्रजा से थोड़ा–थोड़ा वार्षिक ग्रहण करना चाहिए। एक अन्य स्थान पर यह भी कहा गया है कि राजा को कर न लेने से अपनी जड़ तथा अत्यधिक कर लेने से प्रजा की जड़ नहीं काटनी चाहिए। अतएव राजा को अपना नाश अथवा प्रजा की जड़ नहीं उखाड़नी चाहिए।[38] कर लेने का उद्देश्य प्रजा का रक्षा है, वास्तव में यही शासन का मुख्य उद्देश्य है। मनुस्मृति में कहा गया है कि सदाचारियों की रक्षा तथा कष्टकों (चोर साहस करनेवाले यथा आग लगाना, डाका डालना) के शोधन (दण्ड देकर नष्ट) करने से प्रजा पालन में तत्पर राजा (मरने पर) स्वर्ग को जाता है, अतएव राजा को प्रजा–रक्षण कार्यो में प्रयत्नशील रहना चाहिए। जो राजा चोर आदि का दमन न करते हुए भी प्रजा से कर लेता है, उसके राज्य में निवास करने वाले लोग क्रुद्ध हो जाते हैं तथा वह राजा स्वर्ग पाने के अधिकार से वंचित हो जाता है।[39] अति निर्धन राजा को भी श्रोत्रिय (वेदषठी ब्राह्मण) से कर नहीं लेना चाहिए और राजा ऐसा प्रबन्ध करे कि उसके देश में रहनेवाले श्रोत्रिय भूख से पीड़ित न हों। जिस राजा के राज्य में रहनेवाले श्रोत्रिय क्षुधा से पीड़ित होता है उसकी क्षुधा से उस राजा का राज्य भी थोड़े ही दिनों में बैठ जाता है।

करों की दर आदि के विषय में ये बातें दी गयी हैं– व्यापारियों से कर उनके सभी प्रकार के व्यय और लाभ को देखकर लिया जाय, राजा इस प्रकार सोच–विचार करके कर लगावे कि राजा देखभाल आदि के और व्यापारी व्यापार आदि के फल से युक्त रहे अर्थात् दोनों को, अपने–अपने उद्योग के अनुसार फल मिले। राजा को प्शु तथा स्वर्ण कर (मूलधन से अधिक) का पचासवां भाग और धान्य का छठा, आठवां या बारहवां भाग (भूमि की श्रेष्ठता, उपजाउपन एवं परिश्रम आदि का विचार आदि का विचार कर) ग्रहण करना चाहिए। वृक्ष, मांस, घी, गंध औषधि, शाक, चमड़, मिट्टी के बर्तन और पत्थर की बनी आदि सभी वस्तुओं का छठा भाग कर रूप में लिया जाना चाहिए। राजा को चाहिए कि वह शाक आदि सामान्यतम वस्तुओं की खरीद और बिक्री से जीने वाले साधारण व्यक्तियों से बहुत कम वार्षिक कर ले। कारीगर, बढ़ई, लुहार, बोझ ढ़ोनेवाले, मजदूर आदि से राजा प्रति मास एक दिन काम करावे। राजा को अंधे, जड़, पंगु, सत्तर वर्ष से अधिक बुढ़े व्यक्तियों से कर नहीं लेना चाहिए।

विभिन्न प्रकार के आय–साधन :

- **बलिः**– राजकोष के लिए प्रजा से कर रूप में जो धन–धान्य या अन्य आवश्यक सामग्री प्राप्त की जाती थी, उसे प्राचीन भारत में बलि कहा जाता था, मनु के अनुसार प्रत्येक राजा बलि का अधिकारी नहीं होता, केवल वही राजा इसका अधिकारी है जो इससे प्राप्त धन–धान्य या सामग्री का प्रजा– रक्षण में ही सदुपयोग करता है। और राजा निर्दोष प्रजा की दुष्ट, चोर आदि से रक्षा नहीं करता और फिर भी प्रजा से छठे भाग के रूप में बलि (राजग्राह्य भाग) लेता है, वह राजा सब लोगों के सब पापों का ग्रहण करनेवाला होता है।[40]
- **शुल्कः**– यह बाजार या हाट में व्यापारियों द्वारा बिक्री के लिए लायी गयी वस्तुओं पर लगाया जाता है। इस विषय में मनुस्मृति में कहा गया है कि व्यापारियों को जो लाभ हो उसका बीसवां भाग राजा के शुल्क रूप में मिलना चाहिए।41

- **दण्ड करः**– इसका अर्थ जुर्माने के दण्ड में से है। राजा को चाहिए िकवह व्यक्ति के दोष और उसकी सामर्थ्य को देखकर अर्थ दण्ड दे और इस प्रकार से प्राप्त होनेवाले धन का राजकोष में संचय होना चाहिए। अन्य करों में संतरण कर, पशुकर और आकर कर आते हैं। संतरण कर का अर्थ है नदी, नालों आदि को पार करने के लिए जो पुल आदि बनाये जाते हैं या नाव आदि का प्रबन्ध किया जाय उनका प्रयोग करनेवाले व्यक्तियों से लिया जानेवाला कर। पशुओं के व्यापार करने वालों पर पशुकर लगाता था। आकर कर का अभिप्राय खानों से प्राप्त कीमती धातुओं–सोना आदि पर कर से है। मनु ने कहा है कि राजा को स्वर्ण–लाभ का पचासवां भागकर रूप में प्राप्त करना चाहिए। इस प्रकार मनुस्मृति में इस कर की ओर संकेत मिलता है। करों के विषय में याज्ञवल्क्य ने कोई व्यवस्था नहीं दी है।

5.7 पर–राष्ट्र संबंध :

राजमण्डल– मनु ने इस विषय में कहा है– राजमण्डल की चार मूल प्रकृतियाँ ये हैं– मध्यम, विजीगीषु, उदासीन और शत्रु जो राजा विजिगीषु राजा की सीमा के पास रहता हो, विजिगीषु और उसके विरोधियों में संधि होने पर अनुग्रह करने में तथा विरोध होने पर दण्डित करने में समर्थ हो, वह राजा 'मध्यम' है। जो विजीगीषु तथा मध्यम राजाओं के एकमत होने पर अनुग्रह करने में तथा विरोध होने पर निग्रह (दण्डित) करने में समर्थक हो, वह राजा उदासीन है। शत्रु राजा मीन प्रकार के होते है। सहज शत्रु (चचेरा भाई आदि), कृत्रिम (बुराई आदि के कारण बना हुआ) शत्रु और राज्य की भूमि (सीमा) का पार्श्ववर्ती शत्रु। राजमण्डल की कुल मिलाकर बाहर प्रकृतियाँ है– (1–4) ऊपर वर्णित मूल प्रकृतियाँ और (5) मित्र, (6) अरिमित्र, (7) मित्र का मित्र, (8) अरि के मित्र का मित्र, (ये चारों शत्रु की भूमि से आगे की ओर) तथा (9) पाणिग्राह, (10) आक्रन्द, (11) पाणिग्राहासार और (12) आकंदासार (ये चारो शत्रु की भूमि से पीछे की ओर) राजमण्डल की पूर्वोक्त बारह प्रकृतियों में से प्रत्येक की अग्रिलिखित पाँच द्रव्य–प्रकृतियाँ है–

- अमात्य (प्रधानमंत्री),
- राष्ट्र,
- दुर्ग,
- अर्थ (कोष), और
- दण्ड।

इस प्रकार कुल द्रव्य–प्रकृतियाँ 12×6=60 हुई, जिनमें 12 प्रकृतियाँ जोड़ने पर राजमण्डल की कुल 72 प्रकृतियाँ हुई।

विजिगीषु राजा को चाहिए कि वह शत्रु राजाओं से अलग–अलग या मिलकर साम, दाम, भेद और दण्ड आदि उपायों से, पुरूषार्थ और नीति से उन सबाको अपने वश में करें। राजा को ऐसा यत्न करना चाहिए कि शत्रु अपने छिद्रों को न जाने, परन्तु शत्रु के छिद्रों को आप जाने सकें। राजा कुछ के समान अपने (राज्य–संबंधी) अंगों को, गुप्त रखे और अपने छिद्र का संरक्षण करे। अविश्वासी पर विश्वास न करें, विश्वासी पर अति विश्वास न करे, क्योंकि विश्वास

से उत्पन्न भय जड़ से काट देता है। राजा बगुले के समान अपने अर्थो (प्रयोजनों) का चिंतन करें, सिंह सा पराक्रम, वृक सा मार डाले और शशक (खरगोश) सा भाग जाय। इस प्रकार विजय करनेवाले राजा के जो विरोधी हो, वह उन्हें सामादि उपायों से वश में करे। यदि विरोधी साम, दाम और भेद इन तीनों उपायों से न माने तो राजा उसे दण्ड से ही बल–प्रयोग द्वारा वश में करें।

संधि, विष्णु, यान, आसन, द्वेधीभाव और संश्रय इस छः गुणों अर्थात् षड्गुण नीति का विजिगीषु राजा को सदैव विचार करना चाहिए। इन नीति का पालन राजा को अपनी हानि एवं लाभ को विचार कर करना चाहिए। षड्गुण नीति के प्रत्येक अंग के दो भाग हैं। संधि –इसके दो प्रकार हैं : (1) तात्कालिक या भविष्य में लाभ की इच्छा से किसी दूसरे राजा से मिलकर शत्रु पर चढ़ाई (यान) करना 'समानधर्मा संधि है, (2) तात्कालिक या भविष्य में लाभ की इच्छा से किसी राजा से 'आप इधर जाइए, मैं उधर जाता हूँ, ऐसा कहकर अलग–अलग चढ़ाई करना 'असमानधर्मी संधि कहलाती है। विग्रह के दो भेद इस प्रकार है– (1) शत्रु पर विजय पाने के लिए (मंत्री या सेनापति आदि से) शत्रु व्यसन मालूम कर स्वयं विग्रह करना और (2) किसी दूसरे राजा के द्वारा अपने मित्र पर आक्रमण या उसको किस प्रकार ही हानि पहुँचाने पर मित्र की रक्षा के लिए किया गया विग्रह। यान– (1) शत्रु के आपत्ति में फँसजाने पर अकस्मात समर्थ राजा द्वारा आक्रमण करना, (2) स्वयं समर्थ न होने पर मित्र के साथ आक्रमण करना।

आसन–(1) भाग्यवश या कार्यवश सेना, कोष आदि के क्षीण हो जाने पर या समृद्ध रहने पर भी शत्रु राजा का घेरा डालता,

(2) मित्र के अनुरोध से उसकी रक्षा के लिए शत्रु का घेरा डालना।

द्वैधीभा–(1) अपने कार्य की सिद्धि के लिए हाथी, घोड़ा आदि चतुरगिणी सेना का एक भाग शत्रु से बचने के लिए सेनापति के अधीन करना।

(2) उक्त सेना का शेष भाग दुर्ग आदि में राजा के अधीन रखना।

संश्रय–(1) शत्रु से पीड़ित होते हुए आत्मरक्षार्थ किसी बलवान राजा का आश्रय लेना,

(2) भविष्य में शत्रु से पीड़ित होने की आशंका से आत्मरक्षार्थ किसी बलवान राजा का आश्रय लेना।

जहाँ तक शान्तिकाल में अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों की बात है राज्यों को राजदूतों की अदला–बदली करनी चाहिए और अपने बीच कूटनीतिक संबंध रखने चाहिए। राजदूत का पर्यवेक्षण शक्ति काफी विकसित होनी चाहिए और उसे मनोविज्ञान का अच्छा ज्ञान होना चाहिए, उससे सब शास्त्रों का विद्वान, इंगित (वचन, स्वर आदि अभिप्राय–सूचक भाव), आकार और चेष्टा को जाननेवाला, शुद्ध, हृदय, चतुर तथा कुलीन होना चाहिए। राजदूत को संधि, विग्रह आदि षड्गुण नीति तथा समय को जाननेवाला, आने वाले समय में समर्थ और धर्म–अर्थ तथा काम से शत्रुओं के द्वारा अपने पक्ष में न किया जा सकने वाला होना चाहिए। राजदूत ही मित्रों को बनाने व बिगाड़ने वाला होता है। युद्ध और शांति की चाभियाँ उसके ही हाथ में रहता है।

अब राजा सब प्रकृतियों को दान–मान आदि से अत्यन्त संतुष्ट तथा अपनी सेना को अत्यन्त बलशाली समझे तो शत्रु को लक्ष्य कर अभियान कर देना चाहिए। परन्तु जब राजा अपने को अत्यन्त क्षीण समझे तब यत्नपूर्वक शत्रु को शान्त करता हुआ चुप होकर बैठ जाय। जब राजा शत्रु को अपने से सब प्रकार बलवान समझे तब अपनी सेना को दो भागों में बाँटकर एक भाग को शत्रु को रोकने के लिए सेनापति के अधीन कर तथा दूसरे भाग को आत्मरक्षा के लिए अपने अधीन (दुर्ग आदि सुरक्षित स्थान में रखकर) अपना कार्य (मित्रआदि सहायक साधनों का संग्रह) करें। जब राजा शत्रु द्वारा अपने को पराजित होने योग्य समझे, तब शीघ्र ही बलवान् राजा का आश्रय ग्रहण करे। राजा सब उपायों (साम,दाम,भेद और दण्ड) से ऐसा करे कि जिससे उसके शत्रु मित्र तथा उदासीन अधिक न हों। जब राजा अपनी विजय निश्चित समझे और अपने सैन्य बल से युक्त हो तब विग्रह कर शत्रु पर चढ़ाई करे और जब शत्रु को अमात्य आदि के विरोध या कठोर दण्ड आदि से व्यसन में पड़ा हुआ समझे तब शत्रु पर अन्य समय (अगहन, फाल्गुन, चैत्र महीनों के अतिरिक्त) भी चढ़ाई करे।

युद्ध– युद्ध से डरकर न भागना राजा का धर्म (कर्त्तव्य) है। युद्ध करते हुए राजा विमुख न होकर (मरने से) स्वर्ग को जाता है। युद्ध करते हुए राजा या योद्धा को कूटशस्त्र (बाहर में लकड़ी आदि तथा भीतर में घातक तीक्ष्ण शस्त्र या लोहे आदि से युक्त शस्त्र), कीर्ण के आकार वाले फल (वाण का अगला भाग) विषादि में बुझाये गये, अग्नि से प्रज्वलित अग्रभाग वाले शस्त्रों में शत्रुओं को नहीं मारना चाहिए। रथ पर बैठा हुआ योद्धा भूमि पर स्थित, नपुंसक हाथ जोड़े हुए बाल खोले हुए, बैठे हुए और मैं तुम्हारा हूँ ऐसा कहते हुए शरणागत योद्धा को न मारे। सोते हुए, कवच से रहित, नंगे, शस्त्र से रहित, युद्ध न करते हुए और दूसरे के साथ युद्ध में भिड़े योद्धा को नहीं मारना चाहिए। अपने शस्त्र–अस्त्र के टूटनेआदि से दुःखी पुत्र आदि के शोक से आर्त, बहुत घायल, डरे हुए और युद्ध से विमुख योद्धा को भी नहीं मारना चाहिए। ये नियम बताते हैं कि मनु भी धर्म–युद्ध का समर्थन करते हैं।

युद्ध में विजय पाने वाले योद्धा राजा के लिए उद्धार (सोना, चाँदी, जवाहारात, हाथी, घोड़ा आदि युद्ध में प्राप्त धन का षष्ठांग) देवें और राजा विजयी योद्धाओं के लिए सम्मिलित रूप में प्राप्त किये द्रव्यां में से प्रत्येक के अनुसार भाग कर दें। समतल भूमि में रथ और घोड़ों से, जलप्राय युद्ध–भूमि में नाव तथा हाथियों से पेड़ तथा झाड़ियों से गहन युद्ध–भूमि में धनुषों से और कंकड़–पत्थर आदि से वर्जित युद्ध–भूमि में ढ़ाल, तलवार एवं भाला आदि से युद्ध करना चाहिए। युद्ध के लिए राजा को ब्यूह रचना चाहिए और युद्धाभिमानी योद्धाओं को मोर्चे पर रखना चाहिए। राजा को सैनिकों का उत्साह बढ़ाना चाहिए और उनका परीक्षण भी करते रहना चाहिए। राजा शत्रु पर घेरा डालकर रहे, उसके देश को पीड़ित करे, उसके अन्न, जल आदि को नष्ट करे और दूषित द्रव्य मिलाकर उपयोग के अयोग्य बना दे। राजा राज्याभिलाषी तथा भेद–योग्य शत्रु के मंत्री, सेनापति आदि को फोड़े (विजय होने पर राज्य आदि का लोभ देकर अपने पक्ष में करे) उस शत्रु के द्वारा किये ऐसे कार्य का स्वयं मालूम करे और विजयाभिलाषी राजा निर्भय होकर शुभ मुहूर्त में शत्रु से युद्ध करे। विजय लाभ कर देवताओं और ब्राह्मणों को गौ, भूमि तथा स्वर्ण आदि दान देकर पूजा करना चाहिए।

युद्ध आदि के विषय में याज्ञवल्क्य के विचार इस प्रकार हैं– इससे बढ़कर राजा का कोई धर्म नहीं कि युद्ध से अर्जित धन, ब्राह्मण और अपनी प्रजा को सदा अभय रखे। जो राजा (या योद्धा) भूमि के अर्थ युद्ध में सन्मुख लड़ते या अकट (विष आदि जिसमें न लगा हो) शस्त्रों से

मारे जाते हैं वे योगियों के सदृश स्वर्ग पाते हैं। जब अपना सभी दल नष्ट हो गया हो, उस समय जो राजा (या योद्धा) शत्रु के सामने युद्ध करने को जितने पांव चले, वह उतने ही अश्वमेध यज्ञ का फल पाता है और जो योद्धा भागते है उनका सब सुकृत राजा को प्राप्त होता है। जो ऐसा कहे कि ''हम तुम्हारे हैं', जो नपुंसक हो, निरायुद्ध हो, दूसरे के साथ लड़ता हो, जो युद्ध देखने आया हो उसे नहीं मारना चाहिए। जो देश अपने देश में आ जावे, उस देश में जैसा आचार, व्यवहार और कुल की मर्यादा हो उनका उसी रीति से पालन करना चाहिए। जिसका राज्य अपने राज्य की समीा से मिला हो वह और उससे परे तथा उससे भी परे जो राज्य है वे क्रम में शत्रु, मित्र और उदासीन होते हैं। उनका अभीष्ट समझकर साम, दाम, भेद और दण्ड आदि उपाय करते रहना चाहिए। साम (प्रिय भाषण), दाम (धन देना), भेद (फोड़ लेना) और दण्ड (शक्ति का प्रयोग), इन उपायों का विचारपूर्वक प्रयोग करने से सिद्धि प्राप्त होती है, किन्तु दण्ड का प्रयोग तभी करना उचित है जब कि प्रथम तीन उपायों से कार्य सिद्ध न हो।[42] जब जैसा उचित हो राजा को संधि, विग्रह, यान, आसन) उपेक्षा, संज्ञय और द्वधीभाव का प्रयोग करना चाहिए।

5.8 कौटिल्य से तुलना :

जहाँ तक सामाजिक व्यवस्था का संबंध है मनु, याज्ञवल्क्य और कौटिल्य तीनों ही वैदिक परम्परा के अनुसार वर्णाश्रम धर्म को मानते हैं। वे तीनों ही समाज में ब्राह्मणों के महत्त्वपूर्ण स्थान को स्वीकार करते हैं और शुद्रों को समान रूप से हीन स्थान देते हैं। परन्तु कौटिल्य ने सृष्टि की रचना के संबंध में कोई विचार व्यक्त नहीं किया है, जबकि मनु ने कहा है कि ब्राह्मणों का उत्पत्ति ब्रह्मा के मुख से, क्षत्रियों की बाहुओं से और वेश्यों की पेट से हुई। मनुष्य जीवन के उद्देश्य कौटिल्य की तरह मनु और याज्ञवल्क्य ने भी धर्म, अर्थ और काम तथा परलोक में मोक्ष माने हैं।[43] जबकि कौटिल्य ने चार मुख्य विद्याएँ– आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता (पशु–पालन, कृषि और व्यापार) तथा दण्डनीति मानी है, मनु ने प्रथम को छोड़कर अन्य तीन को ही स्वीकार किया हे। जहाँ तक दण्डनीति के महत्त्व का प्रश्न है तीनों को ही स्वीकार करते हैं। कौटिल्य के अनुसार दण्डनीति ही अप्राप्त वस्तुओं को प्राप्त करानेवाली, प्राप्त हुए धन (व भूमि) की रक्षा कराने में तत्पर और संबर्द्धित वस्तुओं को समुचित कार्यों में लगाने का निर्देश करती है। इसी पर संसार की सारी लोक–यात्रा निर्भर है, अतः लोक को समुचित मार्ग पर चलाने के लिए राजा को सदा ही दण्ड देने के लिए प्रस्तुत रहना चाहिए। परन्तु कठोर दण्ड देनेवाले राजा से सभी प्राणी उद्विग्न हो जाते हैं और नरम दण्ड देने से प्रजा तिरस्कार करने लग जाती है। दण्ड द्वारा समुचित हुए चारों वर्ण और आश्रम के सदस्य अपने–अपने धर्म और कर्म में लगे रहते हैं। मनु के मतानुसार दण्ड ही राजा है, दण्ड शासन करनेवाला है और दण्ड चारों आश्रमों के धर्म का प्रतिभू है। दण्ड ही सब प्रजा पर शासन करता है और दण्ड ही सबकी रक्षा करता है। याज्ञवल्क्य ने भी कहा है कि राजा दुष्टों को दण्ड दे, पूर्वकाल में ब्रह्मा ने दण्ड रूप से धर्म को बताया। इसी आधार पर डॉ0 घोषाल ने कहा है कि दण्ड के विषय में मनु द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त कौटिल्य के विचार को दोहराता तथा विकसित करता है।44

राज्य की उत्पत्ति और उसके ध्येय के विषय में भी मनु और कौटिल्य के विचार बहुत सीमा तक समान है। जैसा कि दूसरे खण्ड में बताया गया है मनु ने राजा की उत्पत्ति देवी मानी है, किन्तु कौटिल्य ने इस विषय में अपना मत न देकर के सामाजिक अनुबन्ध के सिद्धान्त को

स्वीकार किया प्रतीत होता है। मनु और याज्ञवल्क्य कौटिल्य की भाँति ही राज्य को सप्तांग मानते हैं। कौटिल्य ने राज्य के सात अंग (अथवा प्रकृतियाँ) ये बतायेंह"– स्वामी, अमात्य जनपद, दुर्ग, कोष, दण्ड और मित्र। मनु ने जनपद को राष्ट्र कहा है और दुर्ग के स्थान पर पुर रखा है, किन्तु उनका आशय एक ही है। मनु ने प्रकृति शब्द का प्रयोग राजमण्डल के संबंध में किया है, न कि राज्य के अंग के अर्थ में जैसा कि कौटिल्य ने किया है। मनु और याज्ञवल्क्य ने केवल राजतंत्र के विषय में ही लिखा है, कौटिल्य ने भी राजतंत्र को ही श्रेष्ठ शासन माना है किन्तु उसने गणों (संधों) का भी उल्लेख किया है। तीनों ही लेखकों के अनुसार राज्य के उद्देश्य प्रायः समान है और उसका कार्य–क्षेत्र विस्तृत है। राजा को प्रजा की सुरक्षा, शांति और व्यवस्था के अतिरिक्त आर्थिक विकास और समृद्धि के लिए प्रयत्न करने चाहिए। जहाँ तक प्रशासन–व्यवस्था का संबंध है तीनों ही लेखकों ने राजा को परामर्श देने के लिए मंत्रियों की आवश्यकता पर बल दिया है, साथ ही पुरोहित और विभिन्न प्रकार के अधिकारियों की नियुक्ति आवश्यक बतायी है। परन्तु जबकि कौटिल्य ने मंत्रियों की संख्या समय और आवश्यकता के अनुसार नियत करने की बात कही है मनु ने उनकी संख्या सात या आठ बतायी है। मनु और कौटिल्य ने प्रधानमंत्री के पद को और भी संकेत किया है और मंत्रियों की योग्यता के विषय में प्रायः समान विचार व्यक्त किये हैं, किन्तु कौटिल्य ने राज्य के अट्ठारह तीर्थों और विभिन्न विभागों के उच्च अधिकारियों के नामों व कर्त्तव्यों का विशद विवेचन किया है। वास्तव में कौटिल्य का अर्थशास्त्र प्राचीन भारत की प्रशासन–व्यवस्था के संबंध में सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। मनु और याज्ञवल्क्य ने प्रशासन–अधिकारियों और संगठन का सविस्तार वर्ण नहीं किया है।

राजा के गुणों, उसके प्रशिक्षण और कर्त्तव्यों पर तीनों ही लेखकों ने बल दिया है। कौटिल्य के अनुसार राजा महाकुलीन, वृद्धों की बात माननेवाला, धार्मिक, सत्यवादी, धैर्य–सम्पन्न दूरदर्शी, उच्चाधिकारी उत्साही, समर्थ सामन्तों से युक्त, शास्त्रों का ज्ञाता, जितेन्द्रिय और विनययुक्त होना चाहिए। मनु ने राजा के गुणों में इन्हें सम्मिलित किया है– विनययुक्त, वृद्ध और वेदज्ञाता ब्राह्मणों की सेवा करनेवाला, त्रयी, दण्डनीति और वार्ता आदि विद्याओं में प्रवीण, जितेन्द्रिय, काम और क्रोध से उत्पन्न होनेवाले व्यसनों से रहित और धर्मपालक। मनु और कौटिल्य ने राजा को दिनचर्या का विस्तारपूर्वक वर्ण किया है। कौटिल्य ने राजा के मुख्य कर्त्तव्य ये बताये हैं– उद्योग और यज्ञ करना, दान देना, प्रजा का पालन करना, विधिवत् दीक्षित व्यक्तियों को विभिन्न पदों पर नियुक्त करना, प्रजा को सुनिश्चित व समृद्ध बनाने के लिए प्रत्येक संभव प्रयास और न्याय–प्रशासन करना। मनु के अनुसार राजा के मुख्य कर्त्तव्य इस प्रकार हैं– विभिन्न कार्यों को करने के लिए अध्यक्षों की नियुक्ति, युद्ध से विमुख न होना, प्राप्त की रक्षा करना और अप्राप्त को पाने का प्रयत्न करना, दान देना, दण्ड का उचित प्रयोग करना, प्रजा की रक्षा करना, धर्म पालन करना और कराना इत्यादि।

न्याय व्यवस्था के विषय में मनु और कौटिल्य के विचार काफी मिलते हैं। ये दोनों ओर याज्ञवल्क्य यह मानते हैं कि राजा को न्यायी होना चाहिए। कौटिल्य ने न्याय–प्रशासन को व्यवहार और दण्ड दो भागों में विभाजित किया है और क्रमशः धर्मस्थलीय तथा कण्टक–शोषण न्यायालयों के संगठन का विस्तृत वर्णन किया है। उसने दण्ड–व्यवस्था में ब्राह्मणों और अन्य उच्च वर्णों के सदस्यों के लिए निर्धारित दण्डों में कुछ अन्तर रखा है। ब्राह्मण को किसी भी अपराध के लिए मृत्यु–दण्ड अथवा ताड़न दण्ड नहीं दिया जाना चाहिए, अपितु वह जैसे–जैसे अपराध करे वैसे–वैसे ह उसके माथे पर दाग दे दिये जाय। न्यायालयों के संगठन का विस्तृत

वर्णन भी दिया है, जो अध्याय सात के छठे खण्ड में दिया जा चुका है। मनु ने न्याय–प्रशासन का भार राजा पर छोड़ा है। व्यवहार अथवा मुकदमों के देखने का इच्छुक राजा स्वयं राजसभा (न्यायालय) में जाये अथवा उस कार्य के लिए किसी ब्राह्मण को नियुक्त करे। सभा में तीन अन्य सदस्य होने चाहिए। राजा देश, कुल तथा जाति के अनुसार व्यवहार का निर्णय करे। मनु ने व्यवहार तथा दण्ड (अथवा कष्टक–शोधन) न्यायालयों की पृथक, व्यवस्था नहीं दी है। याज्ञवल्क्य ने न्याय–व्यवस्था का वर्णन अति संक्षिप्त रूप में किया है। मनु ने कानून में ब्राह्मणों को विशेष स्थान दिया है।

कर–व्यवस्था के विषय में भी मनु और कौटिल्य के विचारों में बड़ी समानता है। मनु के अनुसार कर लेने का उद्देश्य प्रजा–रक्षण है। राजा को प्रजा से थोड़ा–थोड़ा वार्षिक कर ग्रहण करना चाहिए, करों की दर विभिन्न समूहों के लिए अलग–अलग होनी चाहिए। खेती आदि भी पैदावार का छठा या आठवां भाग, पशु तथा स्वर्ण कर मूलधन से अधिक का पचासवां भाग और कारीगरी से मोनें में एक दिन कार्य आदि। मनु ने विभिन्न प्रकार के आय साधनों में इन्हें सम्मिलित किया है– बलि, शुल्क, दण्ड कर, पशुकर, आकर कर आदि। कौटिल्य के अनुसार राज्य की आय के मुख्य (भागों) स्रोत ये हैं– दुर्ग (राजधानी) से होनेवाली आय और राष्ट्र आय (राज्य के अन्य भागों से होनेवाली आय)। उसने विभिन्न प्रकार के करों में वर्णिक कर, नदी कर आदि सम्मिलित किये हैं। करों के अतिरिक्त उसने बलि, शुल्क और भाग आदि की व्यवस्था की है, जिनका विवेचन इसी अध्याय में पूर्ण किया जा चुका है।

अन्त में, अन्तर्राज्य संबंधों के क्षेत्र में कौटिल्य ने मुख्य रूप से मण्डल सिद्धान्त और षड्गुण नीति का प्रतिपादन किया है। इन दोनों ही सिद्धान्तों की मनु और याज्ञवल्क्य ने भी अपनाया है : किन्तु मनु ने मण्डल सिद्धान्त में कुछ सिद्धान्त में कुछ जोड़ दिया है। जबकि कौटिल्य ने राजमण्डल में बारह राज्य सम्मिलित किये हैं, मनु ने उन बारह राज्यों को मण्डल की मूल प्रकृतियाँ कहा है और उनके अतिरिक्त प्रत्येक की 5–5 द्रव्य प्रकृतियाँ भी बतायी है। इस प्रकार के मनु के अनुसार राजमण्डल की 72 प्रकृतियाँ हैं। जबकि कौटिल्य ने अनेक प्रकार की संधियाँ बतायी हैं, मनु ने षड्गुण में से प्रत्येक अंक के दो प्रकार बताये हैं। शान्तिकाल व युद्धकाल में परराष्ट्र संबंधों, सेना राजदूत, गुप्तचर व्यवस्था आदि के विषय में कौटिल्य और मनु के विचार अधिकांशतः मिलते हैं। डॉ0 घोषाल के मतानुसार मनु और कौटिल्य के वैदेशिक नीति–संबंधी ध्येय में अन्तर है। मनु के अनुसार वैदेशिक नीति का ध्येय राज्य की सुरक्षा को बनाये रखना है। मनु के इस स्थिर ध्येये के विपरीत कौटिल्य की वैदेशिक नीति में पतन की दया से राज्य को संतुलन और उन्नति की दशा तक प्रगतिशील विकास द्वारा ले जाना अन्तर्ग्रस्त है।[45]

ISBN: 978-81-19149-32-2

अध्याय 6

निष्कर्ष

मनुस्मृति में मानव जीवन संबंधी समस्त आवश्यकीय विषय क्रम से दिये गये हैं। पहले अध्याय में सृष्टि रचना और मनुष्यों की उत्पत्ति का वर्णन करके दूसरे अध्याय से चारों आश्रमों के धर्म और कर्त्तव्यों का वर्णन किया गया है सातवें और आठवें अध्याय में राज्य शासन, दण्ड विधान साक्षी आदि का वर्णन है। आगे चलकर स्त्री–रक्षा धर्म, प्रायश्चित, तप का महत्त्व, कृतकर्म फल आदि विषयों का विवेचन किया गया है। सच पूछा जाय तो समस्त स्मृतियों का मूल आधार मनुस्मृति ही है और यदि उसे मानव सभ्यता का सर्वप्रथम कानून का जाय तो कोई अतिश्योक्ति नहीं है।

हिन्दू–धर्म में वेदों को ईश्वरीय ज्ञान की आदि रचना माना जाता है जो सृष्टि के प्रारंभ में प्रकट हुए थे। विदेशी विद्वान भी उनकी ''संसार के सबसे अधिक प्राचीन ग्रंथ' स्वीकार करते हैं। ''मनु'' का उल्लेख वेदों में भी कई जगह आया है और उनका पिता के रूप में वर्णन किया गया है मन के यज्ञ का संकेत करते हुए रूद्र को स्तुति में कहा गया है –

मृलानो रूद्रोत मयस्कृधि क्षयद्वीराय नमना विधेमते।

यच्छ च योश्च मनुरायेजे पित तदश्य मतव रूद्र प्रणीतिषु।।

(ऋग्वेद–1/1141.)

हे रूद्र! दया करो सुख दो। वीरों के स्वामी तुमको हम नमस्कार करते हैं। जिस शान्ति–सुख की यज्ञ द्वारा ''मनु'' ने पाया था, वही तुम हमको प्रदान करो''

यामथर्वी मनुष्पिता दध्यङ् धिय मत्नत।

ता स्मन ब्राह्मण पूर्वथेन्द्र उक्था समग्मतार्चत्रनु स्वराज्यम।।

(ऋग्वेद–1/804/2)

''अथवा, ''पिता मनु और दध्यङं'' ने जो कर्म किये, उन सबको हवियां और स्तुतियाँ इन्द्र में एकत्रित हुई।''

या वो भेषजा मरूतः शवीनिया शन्तमा वृपणो मयोभु।

यानि मनुरवृणीता पिता नस्ता शंच योश्च रूद्रस्य वश्मि।।

(ऋग्वेद–2/33/13)

'मे मरूद्ण्ण! तुम्हारी स्वच्छ औषधि अत्यन्त सुख को देने वाली है। जिस औषधि की हमारे पूर्वज मनु ने खोज की थी, वह भयों को नष्ट करनेवाली थी। उसी औषधि की हम कामना करते है।''

इतना ही नहीं ऋग्वेद के आठवें मण्डल के 27 से 31 तक, पाँच सूक्तों के रचयिता 'मनु वेवस्वत'' ही है। इनमें समस्त देवताओं की स्तुति करते हुए जन, पशु, वनस्पति, शत्रु–नाश आदि की वृद्धि के लिए प्रार्थना की है। इन सूक्तों में जगह–जगह मनु का नाम भी आया है। हम उनके कुछ अंगों का भावार्थ मात्र यहाँ देते है–

''विश्वदेवा शत्रुओं का नाश करनेवाले तथा बहुत से धनों के स्वामी है। यह मनु'' की वृद्धि करने वाले हों। यह सबके जाननेवाले देवताओं। तुम हमारी रक्षा करते हुए वाधाहीन वर दो। देवताओं, तुम शभुओं को भक्षण करने में समर्थ हो। तुम बन्धु–भाव से पूर्ण हो। तुम हमारे अभ्युदय के लिए और अभिनय धन के लिए शीघ्र ही आज्ञा करो। विश्व देवता मुझ मनु को धनादि देने के लिए समान बुद्धि वाले होकर एक साथ प्रवृत हों मुझे और मेरे पुत्र के लिए नित्यप्रति वरणीय धन प्रदान करने वाले हों। हे देवों! तुम सब धनों के स्वामी हो। तुम सुर्योदय होने पर मध्याह्न काल में और सायंकाल में जो रमणीय धन मुझे हविदाता मेधावी मन के निमित्त धारण करते हों, तुम्हारे पत्रों के समान हम उसी उपभोग्य धन को पायेंगे। विष्णु ने तीन पैरों से त्रैलोक्य को नाप लिया उनके इस कर्म से देवता हर्षित हुए। वे अनेकों की स्तुति के पात्र हैं। हम देवताओं सहित विष्णु से सुख माँगते हैं। हम पर्वत और नदी से भी सुख की कामना करते हैं। जैसे–मित्र, वरूण, अर्यमा हमारी रक्षा करते हैं, वैसे ही यज्ञ के सभी मार्ग हमारे लिए सुगम हों।

'मनुस्मृति' वास्तव में सबसे अधिक प्राचीन है, इसकाएक प्रमाण यह भी है कि संसार की अन्य अत्यन्त प्राचीन सभ्यताओं में भी प्रथम कानून बनाने वाले का नाम 'मनु' से मिलता–जुलता ही माना गया है। इस संबंध में इंगलैण्ड के प्रसिद्ध भाषा–तात्यविद् 'सर' विलियम जोन्स' ने अनेक भाषाओं की जाँच करके लिखा है।

We can not but admit that Mions. Makes or Manuies have only Greck terminations but that the crude noun is composed of the same redical letters both in Greek and Sanskrit.

अर्थात् 'हम इस बात को स्वीकार किये बिना नहीं रह सकते कि ग्रीक (यूनानी) भाषा के 'माइनेस' 'मिनेयुस; आदि शब्द संस्कृत के 'मनु' शब्द के ही विकृत रूप है' वे आगे चलकर इसका विस्तृत विवेचन करते कहते हुए हैं।

''हम इस बात का निर्णय करने का कार्य दूसरे लोगों के लिए छोड़ देते हैं कि क्या ब्रह्मा का पुत्र हीं है जिसे क्री टापू वाले जुपिटर (देवराज)के पुत्र 'माइनोस' ने नाम से पुकारते हैं और जो मिश्र के देवता हर्मोज से धर्मशास्त्र सीखकर मिश्र का पहला राजा बना था? पर हम बादशाह शाहजहाँ के पुत्र दाराशिकोह के इस कथन को अनुचित नहीं कह सकते कि 'ब्राह्मणों का'' ''मनु'' वहीं है, जो मनुष्य जाति का पूर्वज समझा जाता है और जिसकी यहूदी, इसाई और मुसलमान 'आदम' के नाम से पुकारते हैं।''

हम समझते हैं कि उद्धरण एक बढ़े विद्वान के होने पर भी इनमें मतभेद हो सकता है। फिर भी इससे इतना तो प्रकट होता ही है कि किसी भी तरह सामाजिक नियम बनाने के लिए 'मनु' का नाम इतना प्रसिद्ध हो गया कि सभी देशों के कानून बनाने वालों ने उसे अपना लिया दूसरी बात यह भी संभवहै कि भारतवर्ष से विदेशों में जाकर बसनेवाले आर्य अपने साथ 'मनुस्मृति' का ज्ञान भी ले गये हों और वहाँ के कानूनों का निर्माण उसी के आधार पर किया हो।

जब हम मनुस्मृति को इती प्राचीन, मानव–सभ्यता के आरंभ में रची गई कहते है तो उसका आशय यह न समझ लेना चाहिए कि हम आजकल 'मनुस्मृति' की जो पोथी मिलती है, उसी को अक्षरशः भगवान मनु की रचना कहते है।। लेखन विधि तो अधिक से अधिक दो चार हजार वर्ष से निकाली गई है, उससे पहिले तो 'मनुस्मृति' भी जवानी ही याद रखी जाती होगी। फिर उस समय वह भी वैधि भाषा में ही रची गई होगी, जिसमें वर्तमान संस्कृत से बहुत अधिकम अन्तर है। वास्तव में 'मनुस्मृति, को आदि–कालीन कहने का अर्थ यही है कि जब मनुष्य एक समाज बनाकर रहने लगे और उनके पारस्परिक संबंधों को मर्यादा के भीतर रखना आवश्यक जान पड़ने लगा तो उनके नेता ने जो उस समय का सबसे अधिक ज्ञानी व्यक्ति भी थे, इसके लिए कुछ नियम बना दिये। वे नियम बहुत कुछ प्राकृतिक और स्वाभाविक परिस्थितियों के अनुकूल थे।

ये नियम ही आगे चलकर 'मनुस्मृति' कहलाये और समस्त स्मृति–शास्त्र के बीजस्म बने। पर जैसे–जैसे मानव समाज का विस्तार होता गया और उसके पारस्परिक संबंधों में जटिलता पैदा होती गई, वैसे ही उत्तरकालीन विद्वानों द्वारा उनका विस्तार होता रहा और उनकी भाषा भी समयानुसार बदलती गई। अन्त में ढ़ाई हजार वर्ष पूर्व, जब लेखनकला का भली–भाँति प्रचार हो गया, उसे ग्रंथ के रूप में तैयार कर दिया गया। उसके बाद भी न मालूम कितने विद्वान उसमें आवश्यकता और स्वार्थ के अनुसार घटा–बढ़ा करते रहे। मुसलमानों के आक्रमणों के समय में यहाँ के अधिकांश ग्रंथ जलाकर खाक कर दिये। जो बच गये उनको फिर ठीक किया गया और कुछ नये भी तैयार किये गये। इसलिए यह दावा करना कि आजकल हम जिस 'मनुस्मृति, को पढ़ते हैं, वह तो चार लाख या

दस–बीस हजार वर्ष पहिले ज्यों की त्यों बनाई गई थी, केवल अंध श्रद्धा ही मानी जा सकती है। हमतो यही कह सकते हें कि मनुस्मृति का आरंभ हमारे एक अतिप्राचीन और पूर्ण ज्ञानी पूर्वज द्वारा हुआ था और उसके अनेक परिवर्द्धित तथा संशोधित संस्करण हो जाने पर भी उसका मूलाधार उन्हीं महापुरूष की देन है। इसमें संदेह नहीं कि आज भी यह ग्रंथ मानवीय आचार–व्यवहार, विधि–निषेध की दृष्टि से अनुपम है और उसके द्वारा प्रत्येक सभ्य–समाज बहुत कुछ लाभान्वित हो सकता है।

जिस प्रकार वेदों में मनु का उल्लेख है, उसी प्रकार ''मनुस्मृति'' में भी सर्वप्रथम वेदों को ही ''समस्त ज्ञान का मूल'' व्यवहार स्पष्ट कह दिया गया है–

यः कश्चित् कस्सयचिद्धमो मनुना परिकोर्तिता।

स सवोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमवों हि सः।।

''महर्षि मनु ने जो भी किसी का कोई धर्म बतलाया है, वह सब वेद में कहा गया है, क्योंकि वेद ही समस्त ज्ञान से परिपूर्ण होता है।''

वेदों के प्राकृतिक धर्म सिद्धान्तों का अवलम्बन लेकर चलने का हो यह परिणाम है कि मनुस्मृति केवल एक देश के लिए नहीं, वरन् समस्त संसार के लिए एक उपयोगी कानून की तरह सिद्ध हो सकी। कोई आश्चर्य नहीं कि इसी तथ्य को ध्यान में रखकर प्राचीन मनीषियों द्वारा यह उद्‌गार प्रकट किया गया हो–

एतद्‌देश प्रसूतरय सकाशादग्र जन्मनः।

स्व स्व च रत्र शिक्षेरन् ..... सर्व मानवः।।

अर्थात् ''इसी देश में उन्नत हुए विद्वान ब्राह्मणों के निकट रहकर पृथ्वी के समस्त मनुष्य अपने–अपने चरित्र की शिक्षा प्राप्त करें।''

इस श्लोक में जो भाव प्रकट किया गया है, वह कोई कल्पना प्रसूत अथवा आत्म प्रशंसा की तरह नहीं है, वरन् आधुनिक युग के विद्वानों ने जाँच करके यह सिद्ध कर दिया है कि 'मनुस्मृति' का प्रचार भारतवर्ष के बाहर भी अनेक देशों में था। यूरोपियन सभ्यता आदि स्रोत यूनान में 'मनु' का प्रभावतो ऊपर बतलाया जा चुका है। इसके अतिरिक्त ब्रह्म देश जावा वाली में भी 'मनुस्मृति' का अस्तित्व अभी तक मिलता है। 'हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र' के लेखक– श्री पी. वी. कारो ने लिखा है कि ब्रह्मा और वाली द्वीप के धर्मशास्त्र 'मनुस्मृति' से सादृश्य रखते हैं। वहाँ एक शिला–लेख में मनुस्मृति के दो श्लोक ज्यों के त्यों लिखे हैं। अंग्रेजी में 'मनुस्मृति' का अनुवाद करनेवाले भी बुहलर महोदय ने भी अपने ग्रंथ 'लाज ऑफ मनु' की भूमिका में उसकी प्राचीनता और विश्व–व्यापी प्रभाव के अनेक प्रमाण दिये हैं। उन्होंने भारतवर्ष के बल्लमी वंश के राजा ध्रुवसेन के एक शिलालेख का उल्लेख किया है, जिसमें लिखा है–

Land grants found in the commencement of the vallabhi inscriptions of Dhruvsena I. Guhasena and Dharasena II. the oldest of them is dated samvat 20. i.e. not later than 526 A.D. There, it sold in the description of Dronsinha the first Maharaja of Vallabhi and the immediate predecessor of Dhruvsena and that 'like Dharmraj (Yudhisthra) he observed as his law the rules and ordinances taught by Manu other (sages)" (Page xixiv).

भूमि–दान करने के जो शिलालेख बल्लभी राज्य वंश के राजा ध्रुवसेन (प्रथम), गुहसेन तथा धारसेन (द्वितीय) से संबंध रखते हैं और जिनमें सबसे प्राचीन सम्वत् 207 (बल्लभ) क सन् 526ई. के पश्चात् का नहीं है, बल्लभी वंशके प्रथम महाराजा द्रोण सिंह (जो ध्रुवसेन प्रथम के पहले राजगद्दी पर बैठा था) का वर्णन करते हुए कहा गया है कि 'धर्मराज (युधिष्ठिर) के समान वह मनु आदि ऋषियों के नियमों तथा आदेशों के अनुसार व्यवहार करता था।'

कुछ भी हो इसमें संदेश नहीं कि भारतीय स्मृतियों में 'मनुस्मृति' सबसे प्राचीन हैं और प्रमुख स्थान रखती है। उसके नियम और आदेश अति प्राचीन काल से मानव जाति का मार्ग दर्शन

करते आये हैं और इस दृष्टि से उसका दूसरा नाम 'मानवधर्म सूत्र' भी सार्थ है। आज प्राचीन परिस्थितियों तथा वातावरण के बहुत अधिक बदल जाने पर भी उनका महत्त्व

कम नहीं हुआ है। जब हम उसका अध्ययन करते हैं तो उसके श्लोक हृदय को प्रभावित करते जाते हैं और उनमें दिये गये सिद्धान्त आज भी सर्वोपयोगी और कल्याणकारी प्रतीत होते हैं। अन्य अनेक स्मृतियों की तरह उनमें केवल ब्रह्मचर्य पालन, छूतछात और प्रायश्चित के प्रचलित नियम ही नहीं दिये गये, वरन् प्रत्येक विषय में विवेक से काम लेकर समाज के वास्तविक हित का ध्यान रखने का भी निर्देश किया है। जहाँ अन्य लोगों ने सुवर्ण भूमि अन्न आदि के दान की ही प्रशंसा की है, वहाँ मनु जी' कहते हैंः–

'दान तो अच्छे और शुभ फलदायक होते हैं। जैसे–गो, भूमि, वस्त्र, तिल, सुवर्ण, घी आदि का दान। ब्रह्मदान (ज्ञान और विद्या का दान) इनमें सर्वश्रेष्ठ है।

वर्तमान समय में हिन्दू समाज में प्रथा का जैसा दुरूपयोग हो रहा है। उसे जिस प्रकार एक निकम्मे तथा पराश्रित समुदाय को जीविका का साधन बना दिया है, वह किसी से छिपा नहीं है। 'मंद स्मृति में दान का विधान करते हुए भी उसे अधिकारी व्यक्तियों को ही देने और लेने का स्पष्ट आदेश दिया है और इसके विपरीत आचरण को सबके लिए घात बतलाया है–

'प्रतिग्रह (दान) लेने की सामर्थ्य होते हुए भी यथासंभव उससे दूर रहना चाहिए, क्योंकि दान देनेवाले का ब्रह्मतेज घट जाया करता है। जो तप न करनेवाला और अध्ययरत नामधारी ब्राह्मण दान लेने की रूचि रखता है, वह पत्थर की नौका के समान दाता को भी साथ लेकर डुब जाता है। इसलिए जो विद्वान तथा अधिकारी न हो उसे चाहे जिससे दान लेने में भय खाना चाहिये। अविद्वान पुरूष तो थोड़ा–सा भी दान लेने से कोच के दलदल में फँसी गोचर के प्रति दुःख प्राप्त किया करता है। वेडालिक व्रती (बिल्ली की तरह घात लगाकर शिकार पकड़ने वाले) और (वकव्रती) बगुले की तरह भगत बनने अथवा दिखाई पड़ने वाले) तथा वेद को न जाननेवाले ब्राह्मण को तो जल का दान भी नहीं लेना चाहिए। धर्म के ज्ञाता व्याप्त का यही कर्त्तव्य है। इन तीनों प्रकार के ब्राह्मणों को धर्म के अनुसार दान देना भी लोक और परलोक में अनंधकारी होता है। जिस प्रकार कोई पत्थर की नाव से नदी को पार करने की चेष्टा करने पर उसी में डुब जाता है, उसी प्रकार अज्ञ–दाता (देनेवाला) और ग्रहीता (लेनेवाला) पतन को ही प्राप्त होते हैं।''

धर्म ही मनुष्य जन्म का सार है। उसी का ठीक–ठीक पालन करने से कल्याण होना संभव होता है इसका उपदेश करते हुए कहा गया हैः–

''यहाँ परलोक में सहायता करने के लिए पिता, माता पुत्र, स्त्री अथवा जाति वाले कोई भी नहीं रहते। वहाँ तो इस लोक में किया हुआ केवल एक धर्म ही सहायक हुआ करता है। जीव अकेला ही उत्पन्न होता है और अकेला ही मृत्यु को प्राप्त होता है और अकेला ही उत्पन्न होता है और अकेला ही सुकृत अथवा दुष्कर्म के फल को भोगता है, मृत प्राणी के शव को बन आदि काष्ठ और पत्थर की तरह भूमि पर छोड़ करके विमुख होकर चले जाते हैं। फिर वह प्राणी अकेला ही परलोक को जाता है। यदि वहाँ उसका कोई भी साथी होता है तो वह एक मात्र धर्म ही होता है।''

इसके अतिरिक्त अन्य प्रकरणों में भी प्रत्येक स्थान पर मानव–जीवन को सफल बनाने वाले सत्य तथा न्याय के तथ्यों का प्रतिपादन करनेवाले उपदेश और सिद्धान्त पाते जाते हैं। जो लोग मनुस्मृति आदि पर पक्षपात या अंधविश्वास के प्रसार का दोषारोपण करते हैं, उन्होंने वास्तव में कभी इसका गंभीरतापूर्वक अध्ययन नहीं किया। वे केवल इधर–उधर से सुनी हुई दो–चार बातों को लेकर समस्त ग्रंथ के ऊपर कोई भी मत बना लेते हैं और उसकी निंदा करने लगते हैं। नीचे हम मनुस्मृति से दो–चार उद्धरण देते हैं जिससे उसकी युक्ति युक्ता और उपादेयता की छाप पाठकों के हृदय पर पड़ेगी–

''जो सत्पुरूषों में अपने आपको कुछ और ही बतलाता है और वास्तव में वैसा नहीं होता, वह एक प्रकार का चोर है। अपनी आत्मा को नष्ट करनेवाला है। सभी अर्थवाणी में ही निहित रहते हैं। वाणी ही उनका मूल होती है। उसी की सहायता से वे प्रकट हो सकते हैं। इसलिए जो मनुष्य वाणी की चोरी करता है, अर्थात् असत्य बोलकर अपनी असलियत को छिपाना चाहता है, वह अवश्य ही चोरी का अपराधी होता है।''

''पशु वध की आज्ञा देने व .....हुए पशु के अंगों को अलग करनेवाला, पशु का वध करनेवाला, माँस खरीदने और बेचनेवाला, माँ की सफाई करनेवाला, उसको ले जाने वाला, और पकानेवाला– ये सब पशु की हत्या के दोषी होते हैं। अगर कोई व्यक्ति सौ वर्ष तक प्रतिवर्ष अश्वमेध करे और दूसरा सौ वर्ष तक केवल माँस का खाना त्याग किये रहे तो उन दोनों का पुण्य फल बराबर होता है।''

''जो व्यापारी या दुकानदार पूरा दाम लेकर घटिया चीज ग्राहक को देता है या बोलने में कमी कर देता है, उसको राजा द्वारा कठोर दण्ड दिया जाना चाहिये।''

संतान के लिए स्त्री का किसी अन्य व्यक्ति से सम्पर्क करना अत्यन्त नीच कार्य है। यह विचार करना कि बिना पुत्र के सद्गति नहीं होती है, सर्वथा सत्य नहीं है। अनेक महापुरूषों ने बाल्यावस्था से ही आजन्म ब्रह्मचर्य का व्रत धारण कर लिया था और फिर भी वे स्वर्ग के अधिकारी बने। इसी प्रकार अन्य सज्जन पुरूष भी बिना संतान के स्वर्ग जा सकते।''

ISBN: 978-81-19149-32-2

अध्याय 7

संदर्भ

सहायक ग्रन्थों की सूची –

1. ऋग्वेद, श्री दा0 सातवलेकर, स्वाध्याय मंडल, सतारा, 1940
2. यजुर्वेद, श्री दा0 सातवलेकर, स्वाध्याय मंडल, सतारा, 1943
3. तैत्तिरीय संहिता– श्री दा0 सातवलेकर, स्वाध्याय मंडल, सतारा, सं0–2004
4. शान्ति पर्व
5. याज्ञवल्क्य पर भाष्य
6. अल्तेकर, अ0स0, प्राचीन भारतीय शासन पद्धति,
7. जायसवाल, का0प्र0, हिन्दू राज्य तंत्र (अनु0 रामचन्द्र वर्मा)
8. ठाकुर, लक्ष्मीदत्त, प्रमुख स्मृतियों का अध्ययन
9. पाण्डेय, श्यामलाल, कौटिल्य की राज्य–व्यवस्था
   ं्ण – शुक्र की राजनीति
   इण – भारतीय राजशास्त्र के प्रणेता
10. मीतल, सुरेन्द्रनाथ–समाज और राज्य– भारतीय विचार
11. मुकर्जी, राधाकुमुद–हिन्दू सभ्यता (अनु0 वा0श0 अग्रवाल)
12. Aiyangar, A.N.K. (ed.) - Gautam Dharma Sutra Parishista, 1948.
13. Aiyangar, K.V.R. - Some Aspects of Indian Polity, 1916.
14. Aiyangar,A.S. - State and Government in Ancient India, Varanasi, 1955.
15. Bandopadhyaya, N.C., - Development of Hindu Polity and Political Theories. Ph.I. & II Calcutta, 1927.
16. Bhadarkar D.R., - Some Aspects of Ancient Hindu Polity. Banaras, 1929.
17. Brown, D., - The White Umbrella.
18. Chaudhary. R.K., - Studies in Ancient Indian Law and Justice.
19. Dikshitar, V.R.R., - Hindu Administrative Institutiions, Madras, 1929.
20. Drekneir C. , - Kingship and Community in Early India, California, 1962.
21. Ghoshal, U.N. - A History of Indian Political Ideas, Bombay, 1959.
22. Jayasawal, K.P., - Hindu Polity, Bangalore, 1943.
    - Manu and Yajanvalkya, Calcutta, 1930.
23. Jha, Ganga Nath, - Manusmriti, Vol. I. III, 1920-24
24. Jolly, J., - Institutes of Nurads. 1885.
25. Krishna Rao, M.V. - Studies in Kautilya, 1953
26. Law, N.N., - Studies in Ancient Indian Polity, Vol. I., 1914.
    - Aspects of Ancient India Polity, 1960.
27. Motawani, K., - Mannu Dharmasastra
28. Prasad, Beni, - The State in Ancient India, Allahabad, 1928.

- Theory of Government in Ancient India, Allahabad, 1927.

29. Ramaswamy, T.N., - Esesntials of Indian Statecraft 1962.
30. Salectore, B.A., - Ancient Indian Political Thought and Institutions, 1963.
31. Sanmasatry. R., - Evolution of Indian Polity, 1920.
    - Kautilya Arthasastra, 1951.
32. Sarkar, B.K., - Sukraniti, Calcutta, 1914.
    - The Political Institutions and Theories of the Hindus, 1922.
33. Sharma, R.S., - Aspects of Political Ideas and Institutions in Ancient India, Patna, 1959.
34. Sen, A.K., - Studies in Indian political Thought, 1926.
35. Sinha, H.N., - Sovereighty in Ancient India polity, London, 1936
    - The Development of Indian Polity, 1963.
36. Varma, V.P. - Studies in Hindu political Thought and its Metaphysical Foundations, 1959.
37. Vidyaranava, S.C. - Yagnavalkya Smriti.

लेखक

डॉ. उपेंद्र कुमार

वर्तमान में एआई, और एएस विभाग़ एस.बी.ए.एन कॉलेज दरहेटा-लारी, अरवल में एसोसिएट प्रोफेसर के रूप में कार्यरत हैं| उन्होंने लगभग दस शोध पत्र प्रतिष्ठित जर्नल में पकाशित किया है| साथ ही, उन्होंने राष्ट्रीय संगोष्टी/सम्मेलनों में भी भाग लिया है| वह विभिन्न संगठनों के सदस्य भी हैं|

KRIPA DRISHTI PUBLICATIONS

Kripa-Drishti Publications
A-503 Poorva Heights, Pashan-Sus Road, Near Sai Chowk,
Pune – 411021, Maharashtra, India.
Mob: +91 8007068686
Email: editor@kdpublications.in
Web: https://www.kdpublications.in

ISBN: 978-81-19149-32-2